# शांभवी तन्त्र



म. म. डा. गोपीनाथ कविराज

# शाम्भवीतन्त्रम्

(मूल तथा व्याख्या)

व्याख्या उपदेशक

महामहोपाध्याय डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज (पद्मविभूषण)

भाषा शब्दांकनकार

एस. एन. खण्डेलवाल

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी – दिल्ली

प्रकाशक :

भारतीय विद्या प्रकाशन

१. १, यू.बी., बैंग्लोरोड,
जवाहर नगर, दिल्ली–११०००७

२. पो.बा. ११०८, कचौड़ी गली,
वाराणसी–२२१००१

प्रथम आवृति : १६६४

मूल्य : ६०.००

I.S.B.N

लेजर टाईप सेटिंग :

ईशान कॉप्रिंट

५६-ए कमला नगर, दिल्ली-११०००७

मुद्रक :

जैन अमर प्रिंटिंग प्रेस,
जवाहर नगर, बैंग्लो रोड
दिल्ली-११०००७

# निवेदन

इस तन्त्र को प्रायः लुप्त तत्र माना गया है। परम्परा की दृष्टि से इसे शैवतंत्र के अन्तर्गत् कहा जा सकता है। मानव के विकास की विधा में साधना का स्थान अन्यतम है। साधना क्रममार्ग के अवलम्बन से सम्पन्न होती है। अर्थात् क्रमिक रूप से सोपान क्रम से उर्ध्वारोहण। जो अधिकारी प्राक्तन एवं पूर्वार्जित क्रम के अनुसार जितना उन्नत होता है, वह उसी मात्रा में क्रमोन्नति का भागी होता है। अर्थात उसने पूर्वार्जित एवं प्राक्तन कर्म के अनुसार पूर्वजन्म में जहां तक की साधना को सम्पन्न कर लिया था, इस जन्म में वह उसी विन्दु से साधना प्रारंभ करता है। अंर्थात् पूर्वजन्म में वह साधन पथ पर जहां तक अग्रसर हो चुका था, इस जन्म में उससे आगे के साधन पथ पर वह गतिशील होने लगता है। उसे पूर्व सम्पादित साधना को दोहराने की आवश्यकता नहीं रहती। श्रीमद्भगवत्गीता में भी इसी सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गयी है। इसी कारण से एक ही शास्त्र में अधिकारी भेद को प्रधान रखकर तदनुरूप अनेक साधनाओं का वर्णन किया गया है। जो जिस प्रकार की योग्यता से सम्पन्न है, वह तदनुरूप साधना का वरण करता है। तदनुरूप साधना का वरण करने के अभाव में साधक अग्रगामी गति प्राप्त कर सकने से वंचित रह जाता है। इसी कारण एक ही शास्त्र में अनेक साधन विधि का उल्लेख प्राप्त होता है। साधकों की योग्यता में विविधता है।

जो साधना किसी एक साधक के लिये उपादेय है, वही साधना किसी अन्य साधक के लिये हानिकर भी हो सकती है। इसीलिये विधान है कि योग्य तथा अन्तर्दृष्टि से साधक सम्पन्न गुरु की पूर्वजन्मार्जित योग्यता का आकलन करते हुये, उसी क्रम से आगे वाली साधना का विधान करते हैं। इसी कारण प्राचीन काल के एक ही गुरु अथवा ऋषि विभिन्न साधकों को विभिन्न साधन निर्देश देते हुये परिलक्षित होते है। इसके उदाहरण हैं ऋषि वशिष्ठ। जहां वे पुराणों में द्वैतवादी साधन पथ का, विभिन्न कर्मकाण्ड का उपदेश देते हैं, वहीं वे योगवाशिष्ठ में जिस अद्वैतमत का प्रतिपादन करते हैं, वह राजयोग की अत्यन्त उच्च अवस्था

का द्योतक है। पुराणों में जो वशिष्ठ परम वैष्णव हैं, वहीं वे परम वाममार्गी महाचीनाचार का वरण करते हुये भगवती नीलसरस्वती विद्या के उपदेष्टा भी हैं। यह विभिन्नता एवं विविधता वशिष्ठ की अपने आप में अपनी विभिन्नता नहीं हैं, प्रत्युत जिस स्तर का शिष्य जब उनके सम्मुख उपस्थित होता है, तब वे उसके अनुरूप साधन पथ का विधान कर देते हैं। यह पूर्ण गुरु का लक्षण है। अपूर्ण अथवा किंचित पूर्ण किंवा अर्धपूर्ण गुरु में यह योग्यता नहीं रहती। वह यह नहीं जानता कि विभिन्न एवं परस्परतः विविधता का आभास देने वाले समस्त पथों का गन्तव्य एक ही है। पर्वतों के गह्रो से निकली समस्त नदियां अन्ततः एक ही महासमुद्र में आत्मविसर्जन कर देती है।

पूर्णगुरु में यह न्यूनता नहीं है। उसे वह तथ्य अच्छी तरह से ज्ञात रहता है कि समस्त विभिन्नता तथा विविधता का पर्यवसान उस 'एक' में ही है। अतः वह साधकों के रुची, वैचित्र्य के कारण अनेक ऋजु एवं कुटिल, प्रकार की साधनाओं का विधान करता है। साधको के इसी रूचिवैचित्र्य के कारण ही एक ही सत्ता दुर्गा, राम, कृष्ण, इन्द्र, बुद्ध, सूर्य, महावीर, मरूत, ईसामसीह, जरथुस्त्र आदि-आदि अनन्त रूपों में अपना आत्मप्रकाशन करती रहती है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसके लिये प्रभु की वैसी ही मूरत अपना दर्शन देने के लिये उद्यत हो जाती है।

इस प्रकार कर्ममार्ग का अवलम्बन लेने पर अथवा उसका गहन अध्ययन करने पर यह विदित होने लगता है कि प्राचीन काल में विभिन्न स्तर के साधकवर्ग के हितार्थ सरल-उपयोगी-सम्यक् साधना का विधान किया गया था। यह विधान व्यक्ति अथवा समुदाय द्वारा गठित अथवा रचित नहीं था। बौद्धिक विकास की चरम स्थिति में अर्थात् समाधि की अवस्था में परमसत्ता से जो अनुप्रेरणा प्राप्त होती थी, अथवा पश्यन्ति वाक् स्थिति से अवरोहण करते हुये जब अन्तःप्रज्ञा मध्यमा की स्थिति में आरुढ़ किंवा अभिव्यक्त होती थी, तब एक और अद्वय अनन्त सत्ता प्रश्नकर्त्ता एवं उत्तरदाता के रूप में द्विधा विभक्त होकर ज्ञान एवं साधना के विभिन्न रूप का वैखरी वाक् का आश्रय लेते हुये बहिः, प्रकाशन करती थी। इस

प्रश्नकर्त्ता स्थिति को तन्त्र एवं आगम में भैरवी-आनन्द-भैरवी-पार्वती-देवी आदि के रूप में स्वीकृत किया गया है और समाधान, दाता उत्तरदाता हैं भैरव-आनन्द भैरव-शिव-महादेव आदि के रूप में।

यह महान् ग्रंथ भी इसी प्रकार से विन्यस्त है। जीव की दुःस्थिति देखकर महाकरूणा के वशीभूत होकर देवी अपने में ही अद्वय रूप से स्थित परमसत्ता से जीव के कल्याणार्थ विहित एवं उपादेय साधना की विधि की परिपृच्छा करती हैं और सर्वज्ञ-पंचकृत्यकारी आत्मदेव अपने स्वीयरूप से अभिन्न देवी को जीव कल्याणार्थ स्तरानुक्रम से तथा अधिकारी भेद से सरल उपाय का उपदेश प्रदान करते हैं। इस प्रकार इस एक ही ग्रंथ में हठयोग राजयोग लययोग मन्त्रयोग आत्मयोग प्रभृति विभन्न प्रस्थानों का अंकन किया गया है। इसके अनुशीलन करने वाले सुधीजन अपनी रुचि-सामर्थ्य तथा धरणाशक्ति के तारतम्य से इसमें वर्णित साधन पथ का आश्रय लेकर अनन्त पथ पर गतिशील होते आये हैं।

ग्रंथ का कालनिर्णय करना यहां अभिप्रेत नहीं है। तब भी सामान्यतः यह रचना ई. पू० छठी सदी की प्रतीत होती है, क्योंकि नवम शताब्दी (ईसा के पश्चात्) से प्रवहमान होने वाली वेदान्त और भक्तिधारा का इसमें लेशमात्र भी नहीं मिलता। इस ग्रंथ में प्रयुक्त व्याकरण के आर्ष प्रयोग भी पारिणनी के सूत्रों से है। अतः यह निर्विवाद है कि ग्रंथ का रचना काल पाणिनी से पूर्व के ही है। इस प्रकरण से यह स्थापित हो जाता है कि यह रचना हजारो वर्ष के काल के कराल थपेड़ो को सहते हुय भी बची है। इसकी जो उपयोगिता प्राचीन काल में थी, वह आज भी उसी प्रकार से विद्यमान है।

शांभवी तन्त्र आज अपने पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं है। इसका एक क्षुद्र अंश मेरे अनुवाद के साथ 'ज्ञानसंकुली तंत्र' के नाम से भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ भी अति विशाल शांभवी तंत्र का ही एक अंश मात्र है। इसमें शांभवी विद्या का सर्वत्र आभास प्राप्त होता है, अतः इसकी मूल संज्ञा 'शांभवी तन्त्र' ही समीचीन प्रतीत हो रही है। दैवकृपा से इसके अन्य अंश की जहां तक प्राप्ति अदूर भविष्यत् में हो सकेगी, उसका प्रकाशन इसके विभिन्न खण्ड

के रूप में करने की योजना है। सम्प्रति इसका संस्कृत अंश स्वनामधन्य महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ जी कविराज द्वारा दृष्ट है, जिसके कारण इस ग्रंथ की प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध हो जाती है। अनेक कारणों से यह ग्रंथ कविराज जी के जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो सका था। हिन्दी अनुवाद यथार्थ शब्दशः अनुवाद न होकर व्याख्यापरक है, जिससे जिज्ञासु साधकवर्ग का तथा अध्येता का हित साधन हो सकेगा, यह आशा करता हूं।

महाराणा प्रताप जयन्ती,
एस. एन. खण्डेलवाल
१९९३ई०
बी ३१/३२, लंका, वराणसी

## ।। ॐ ।।

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्त शून्यं
नान्यत् किञ्चित्वर्त्तति वस्तुसत्यम् ।
यद्भेदोऽस्मिन्निन्द्रियोगाधि नावै
ज्ञानस्यास्य भासते नान्यथैव ।। १ ।।

अथभक्तानुरक्तो हि वक्ति योगानुशासनम् ।
ईश्वरः सर्व भूतानामात्म मुक्ति प्रदायकम् ।। २ ।।

त्यक्त्वा विवादशीलानां स्वतं दुर्ज्ञानहेतुकं ।
आत्मज्ञानाय भूतानामनन्यगत चेतसाम् ।। ३ ।।

सत्यं केचित्प्रशंसन्ति तपः शौचं तथापरे ।
क्षमा केचित्प्रशंसन्ति केचिद्वैराग्यमुत्तयम ।। ४ ।।

केचित् ज्ञानं प्रशंसन्ति तथैव शममार्जवम् ।
केचित् गृहस्थ-कर्माणि प्रशंसन्ति विचक्षणाः ।। ५ ।।

अग्निहोत्रादिकं कर्म तथा केचदपूरं विदः ।
मंत्रयोगं प्रशंसन्ति केचित्तीर्थानुसेवनम् ।। ६ ।।

एवं बहूनुपायान् प्रवदन्ति हि मुक्तये ।
एवं व्यवसिता लोके कृत्याकृत्यविदोजनाः ।। ७ ।।

व्यामोहमेवगच्छन्ति विमुग्धाः पापकर्मणा ।। ८ ।।

एतदेव वलं वीर्यं लब्ध्वा दुरित पुंण्यकम् ।
विभ्रमत्यवशां तत्र जन्म मृत्यु परम्परा ।। ६ ।।

एवं मति मतां श्रेष्ठैः श्रुत्यालोकनतत्परैः ।
आत्मानो बहवः प्रोक्ताः कृत्याकृत्य विदुःजनाः ।। १० ।।

ात्यत्ः प्रत्यक्ष विषयं तदन्यत्नास्ति चक्षते ।
कुतः स्वर्गादयः सन्तीत्यन्ये निश्चित् मानसाः ।। ११ ।।

ज्ञानप्रवाहमित्यन्ये शून्यं केचित्परं विदुः ।
द्वावेवतत्वं मत्येत् परं प्रकृतिपूरुषौ ।। १२ ।।

अत्यन्त भिन्नमतयः परमार्थ पराङ्ग्मुखाः ।
एवमन्येतु सञ्चिन्त्य यथामति यथाश्रुतम् ।। १३ ।।

निरीश्वरमिदं प्राहुः सेश्वरं च जगत्परे ।
वदन्ति विविधैर्भेदैः सयुक्त्या स्थिति-कातरः ।। १४ ।।

एतेचान्ये च मुनयः संज्ञाभेदा पृथग्विधाः ।
शास्त्रेषु कथिताहये ते लोक व्यामोह कारकाः ।। १५ ।।

एतद्विवादशीलानां मतं वक्तुं न शक्यते ।
भ्रमंनत्यस्मिन् जनाः सर्वे मुक्ति मार्गवहिष्कृताः ।। १६ ।।

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनःपुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं मतं परम् ।।
यास्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम् ।
अस्मिन् परिश्रमः कार्यः किमन्यत्शास्त्रभाषितम् ।। १७ ।।

योगशास्त्रमिदंगोप्यमस्माभिः परिभाषितम् ।
सुभक्ताय प्रदातव्यं त्रैलोक्ये च महात्मने ।। १६ ।।

कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डमेतदेव द्विधामतम् ।
भवति द्विधोभेदौ ज्ञानकांण्चकर्मकः ।। २० ।।

द्विविधः कर्मकाण्डः स्यात् निषेध विधिपूर्वकः ।
निषिद्धकर्मकरणो पापं भवति निश्चितम् ।। २१ ।।

विधान कर्मकरणे पुण्यं भवति निश्चितम् ।
त्रिविधो विधिकूटः स्यान्नित्य नैमित्तिकाम्यकः ।। २२ ।।

नित्येऽकृते किल्विषं स्यात् काम्ये नैमित्तिके फलम् ।
द्विविधं तु फलं ज्ञेयं स्वर्गो नरकेरेव च ।। २३ ।।

स्वर्गो नानाविधश्चैव नरकोऽपि तथा भवेत् ।
पुण्ये कर्मणि वै स्वर्गो नरकं पाप कर्मणि ।। २४ ।।

कर्मबन्धमयी सृष्टिर्नान्यथा भवति ध्रुवम् ।
जन्तुभिश्चानुभूयन्ते स्वर्गे नानासुखानि च ।। २५ ।।

नानाविधानि दुःखानि नरके दुस्सहानि वै ।
पापकर्मवशाद्दुःखं पुण्यकर्मवशात्सुखम् ।। २६ ।।

तस्मात्सुखर्थो विविधं पुण्यं प्रकुरूते ध्रुवम् ।
पाप भोगवसाने तु पुर्नजन्म भवेत्खलु ।। २७ ।।

पुण्य भोगवसानेऽपि तत्तथा भवति ध्रुवम् ।
स्वर्गेऽपि दुःखसंभोगाः परस्त्री दर्शनादिकम् ।। २८ ।।

तस्मात् दुःखमिदं सर्वं भवेन्नास्त्यत्र संशयः ।
तत्कर्म कल्पकैः प्रोक्तं पुण्यं पापमिति द्विधा ।।२६ ।।

पुण्यपापभयोबन्धो देहिनां भवति क्रमः ।
इहामुत्र फलद्वेषी सफल कर्म संत्यजेत् ।। ३० ।।

नित्यनैमित्तिके संगं त्यक्त्वा योगे प्रवर्तते ।
कर्मकाण्डस्य माहात्म्यं ज्ञात्वा योगी त्यजेत् सुधीः ।। ३१ ।।

पुण्यं पापं द्वयं त्यक्त्वा ज्ञानकाण्डे प्रर्वर्तते ।
आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यं इत्यादि च श्रुते ।। ३२ ।।

सा सेव्यातु प्रयत्नेन मुक्तिदा हेतुदायिना ।
दुरितेषु च पुण्येषु योऽधि वृत्तिं प्रचोदयात् ।। ३३ ।।

सोऽहम् प्रवर्त्तते मत्तो जगत्सर्वं चराचराम् ।
सर्वं च दृश्यते मत्तः सर्वं च मयि लीयते ।। ३४ ।।

न तद्भिन्नो ऽ हमस्मात् यत्मद्भिन्नं न तु किंचन् ।
जलपूर्णेष्वसंख्येषु शरावेषुयथा भवेत् ।। ३५ ।।

एकस्य भात्यसंख्यत्वं तद्वद्नेभूदोऽत्र दृश्यते ।
उपाधीर्षुशरावेषु या संख्या वर्तते परम् ।। ३६ ।।

सांसंख्या भवति यथा रवौ चात्मनि या तथा।
यथैव कल्पकः स्वमेनानाविधतयेष्यते।। ३७।।

जागरेऽपितथाप्येकस्तथैव नवधा जगत्।
सर्पबुद्धि यथा रज्जौ सुक्तौ वा रजतभ्रमः।।३८।।

तद्वदेव जगदिदं विकृतं परमात्मति।
रज्जुज्ञानाद्यथासर्पो मिथ्या भूतोनिवर्तते।।३९।।

आत्माज्ञानात्तथायाति मिथ्याभूतमिदं जगत्।
रूप्य भ्रमन्तिरियं याति मुक्ति ज्ञानाद्यथा खलु।।४०।।

जगत्रान्तिरियं याति चात्मज्ञानात् सदा तथा।
यथावेशोरगाभ्रान्ति भवेदेववशांजनात्।।४१।।

तथा जगदियं भ्रान्तिरध्यास कल्पना जगत्।
आत्मज्ञानाद्यथायाति रज्जुज्ञानादुभूजंगमः।।४२।।

यथादोषवशात् शुक्लम् पीतं भवति नान्यथा।
अज्ञानदोषादात्मा ऽपि जगद्भवति दुस्त्यजनम्।।४३।।

दोष नाशेयथा शुक्लो गृह्यते रोगिणा स्वयं।
शुद्धज्ञानात्तथाज्ञान नाशादात्मतथाक्रियः।।४४।।

कालत्रयेऽपिन्यथा रज्जुः सर्पो भवेदिति।
तथात्मानभवेद्विश्वम्, गुणातीतो निरञ्जनः।।४५।।

आगमापायिनो नित्या नाश्यत्वादीश्वरादयः।
आत्मबोधेन केनापि शास्त्रदेतत् विनिर्णितम्।।४६।।

यथावातवशात् सिन्धौ उत्पन्नाः फेनबुदबुदाः।
तथात्मति समुद्भूतः संसार क्षणभंगुरः।।४७।।

अभेदौ भासते नित्यं वस्तुभेदो न भासते।
द्वित्वंत्रित्वादिभेदोऽयं भ्रमत्वे पर्यवस्यति।।४८।।

तदभूतं यच्च भाव्यं वै मूर्तामूर्त्त तथैव च।
सर्वमेव जगदिदं विवृत्तं परमात्मनि।।४९।।

क़ल्पेकेः कल्पिताविद्या मिथ्या यातामृषात्मिका।
एंतन्मूलं जगदिदं कथं सत्यं भविष्यति।।५०।।

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेत्तचराचरत्म्।
तस्मात्सर्व परित्यज्य चैतन्यं तु समाश्रयेत।।५१।।

घटस्याभ्यन्तरे बाह्ये यथाकाशः प्रवर्तते।
तथात्माभ्यन्तरबाह्ये कार्यवर्गेषु नित्यशः।।५२।।

असंलग्नंयथाकाशं मिथ्याभूतेषु पंचसु।
असंलग्नसितथात्मातु कार्यवर्गेषुनान्यथा।।५३।।

ईश्वरादि जगत्सर्वमात्मा व्याथ समंततः।
एकोऽस्ति सच्चिदानन्दः पूर्णोद्वैत विवर्जितः।।५४।।

यस्मात् प्रकाशको नास्ति स्वप्रकाशोभवेत्ततः।५५।।

स्वप्रकाशो यतस्तस्मादात्मज्योति स्वरूपकः।
आत्मनः सर्वथातस्मादात्म पूर्णोभवेत्खलु।।५६।।

यस्मान्न विद्यते नाशो पंचभूतैवृथात्मकैः।
तस्मादात्मा भवेन्नित्यः स्वेन भास्यो भवेत्खलु'।।५७।।

यस्मात् तदन्यो नास्तीह तस्मादेको ऽस्ति सर्वदा।
यस्मात् तदन्यो मिथ्यास्यादात्मा सत्यो भवेत्ततदा।।५८।।

अविद्याभूतसंसारे दुःखनाशः सुखं यतः।
ज्ञानादद्यन्तशून्यस्यात्तस्मादात्मा भवेत्सुखी।।५९।।

यस्मान्नाशितमज्ञानं ज्ञानेन विश्वकारणम्।
तस्मादात्माभवेद्ज्ञदानं ज्ञानं तस्मात् सनातनम्।।६०।।

कालतो विविधं विश्वं यदाचैव भवेदिदम्।
तदेकोऽस्ति स एकात्मा कल्पनापथवर्जितः।।६१।।

ख नं न वायुर्नचाग्निश्च न जलं पृथिवी न च।
नैतत्कार्यंनेश्वरादि पूर्णेकात्मा भवेत्खलु।।६२।।

वाह्ययानि सर्वभूतानि विनाशयन्ति कालतः।

यतो वाचो निवर्तन्ते आत्माद्वैत विवर्जितः ।। ६३ ।।

आत्मानमात्मना योगी पश्यत्यात्मनि निश्चितम् ।
सर्व-संकल्प-सन्यासी त्यक्त मिथ्या भवग्रहः ।। ६४ ।।

आत्मनात्मनि चात्मानं दृष्टवानन्तं सुखात्मकम् ।
विस्मृश्यविश्वं रमते समाधेस्तीव्रता तथा ।। ६५ ।।

यदानाशं समायति विश्वं नास्ति तदा खलु ।। ६६ ।।

हेयं सर्वमिदं यत्तु मायाविलसितं ततः ।
स्वतः न प्रीतिविषयस्तु न वित्त सुखात्मकम् ।। ६७ ।।

अरिमित्रमुदासीनं त्रिविधंस्यादिदम् जगत् ।
व्यवहारेषु नियतं दृश्यते नान्यथा पुनः ।। ६८ ।।

प्रियाप्रियादि भेदस्तु वस्तुषुनियतः स्फुटम् ।
आत्मोपाधिवशादेवं भवेत्पुत्रेऽपिनान्यथा ।। ६९ ।।

मायाविलसितं विश्वं ज्ञात्वैवं श्रुतियुक्तवः ।
अध्यारोपापवादाभ्यां लीयं कुर्वन्तु योगिनः ।। ७० ।।

कर्मजन्यमिदं विश्वं मत्वा कर्माणि वेदतः ।
निखिलोपाधि विजितो यदा भवति पूरुषः ।। ७१ ।।

तदा विजयतेऽखण्ड ज्ञानरूपी निरंजनः ।
सः कामयते पुरुष सृजति चैव प्रजाः स्वयम् ।। ७२ ।।

अविधा भासते यस्मात् तस्मात् मिथ्या स्वभाविनी ।
शुद्ध ब्रह्मत्व सम्बन्धोऽविद्यया सह यो भवेत् ।। ७३ ।।

ब्रह्म तेर्नदृशतां यान्ति यतः आभासते नमः
तस्मात् प्रकाशते वायुः वायोरग्नि ततः जलम् ।। ७४ ।।

प्रकाशते ततो पृथ्वी कल्पनेह्यं स्थिता शती ।
आकाशाद्वायुराकाश पवनादग्नि संभवः ।। ७५ ।।

खवाताग्नेर्जलम् व्योमवाताग्नि वारिजा मही ।
खं शब्दं लक्षणं वायु चञ्चल स्पर्श लक्षणम् ।। ७६ ।।

स्याद्रूप लक्षणा तेजः सलिलम् रसलक्षणम् ।
गन्ध लक्षणाका पृथ्वी नान्यथा भवति ध्रुवम् ।। ७७ ।।

विशेष गुणाः स्फुरिन्त यतः शास्त्राद्विनिर्णयः ।
शब्दैक गुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते ।। ७८ ।।

तथैव त्रिगुणं तेजो भवत्यापश्चर्तुगुणाः ।
शब्दस्पर्शश्चरूपश्च रसोगन्धस्तथैव च ।। ७६ ।।

एषा पंच गुणा पृथ्वी कल्पकैः कल्प्यतेऽधुना ।
चक्षुषा गृह्यते रूपं गन्धो ध्राणेन गृह्यते ।। ८० ।।

रसो रसनपा स्पर्शाः त्वचा संगृह्यते परम् ।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दो नियतं भाति नान्यथा ।। ८१ ।।

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम्
अस्ति चेत्कल्पनेयंस्यात् नास्ति चेदस्ति चिन्मयम् ।। ८२ ।।

पृथ्वीशीर्णा जलेमग्ना जलमग्नौ च तेजसि ।
लीनं वायौ तथा तेजो व्योमाग्निवातो लयं ययौ ।। ८३ ।।

अविद्यायां महाकाशो लीयते परमे पदे ।
विज्ञेयआवरणाशक्ति दुरात्मा सुखरूपिणी ।। ८४ ।।

जड़रूपा महामाया, रजः सत्वतमोगुणा ।
सा मायावरणाशक्त्याआवृत्ताविज्ञानरूपिणी ।। ८५ ।।

दृश्यते जगदाकारं तत् विक्षेपस्वभावया ।
तमो गुणाधिका विद्या सा दुर्गाभवेत्स्वयम् । ८६ ।।

ईश्वरत्वं तदुपहितं चैतन्यात्तदभूतध्रुवम् ।
सत्वाधि्का च या विद्या लक्ष्मी सा दिव्यरूपणी ।। ८७ ।।

चैतन्यं तदुपहितं विष्णुः भवतिनान्यथा ।
रजोगुणाधिकाविद्या ज्ञेया वै सा सरस्वती ।। ८८ ।।

यश्चित् स्वरूपा भवति ब्रह्मा तदुपकारकः ।
ईशाथाः सकला देवाः दृश्यन्ते परमात्मनि ।। ८६ ।।

शरीरादि जडं सर्वं साअविद्या कल्पिता तथा।
एवं रूपेण कल्पन्ते कल्पकाः विश्वसम्भवम्।। ९०।।

तत्वातत्वं भवतीह कल्पनान्येन चोदिता।
प्रमेयत्वादि रूपेण सर्वं वस्तु प्रकाश्यते।। ९१।।

तथैव वस्तुनास्त्येव भासको वर्तते परम्।
स्वरूपत्वेन रूपेण स्वरूपं वस्तु भासते।। ९२।।

विशेष शब्दोपादनि भेदो भवति नान्यथा।। ९३।।

एक सत्यं पूरतिानन्द रूपः।
पूर्णो व्यापी वर्तते नमस्ति किंचित्।
एतत ज्ञानं यः करोत्येव नित्यं।
मुक्तः सः स्यान्मृत्यु संसार दुःखात्।। ९४।।

यस्यारोपवादाभ्यां यत्र सर्वे लयं गताः।
स एको वर्तते नान्यत् न चित्तेनावधार्यते।। ९५।।

पितुरन्नमयात्कोशाज्जायते पूर्वकर्मकृत्।
तच्छरीरं विदुः दुःखं स्वप्रभोगाय सुन्दरम्।। ९६।।

माँसास्थिस्नायु मज्जादि निर्मितम् भोगमन्दिरम्।
केवलं दुःखभोगाय नाडि संमति गुम्फितम्।। ९७।।

परप्रेत्त्थमिदं गात्रम् पंचभूत विनिर्मितम्।
ब्रह्माण्ड सर्गकं दुःखं सुखभोगाय कल्पितम्।। ९८।।

बिन्दु शिवो रजः शक्तिरूभयोः मेलनात्स्वयम्।
स्वप्रभूतानि जायन्ते स्वशक्त्या जडरूपया।। ९९।।

तत्पंचीकरणस्थूलादात्मसंख्यार्णिका मता।
ब्रह्मांण्डे यानि वस्तूंति नियतानि स्वकर्मभिः।। १००।।

तद्भूतपंचकात् सर्वं भोगाख्यं जीवसंज्ञके।
पूर्वकर्मानुरोधेन करोमि घटनामहम्।। १०१।।

अजडः सर्वभूतान् वै जडस्थित्याभुनक्तितान्।

जडात् स्वकर्मभिर्बद्धो जीवाख्यो विविधौ भवेत् ।। १०२ ।।

भोगायोत्पद्यते भोगावसाने च स्वकर्मभिः ।
देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीप समन्विते ।। १०३ ।।

सरितः सागरास्तत्र क्षेत्राणि क्षेत्रपालकः ।
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।। १०४ ।।

पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः ।। १०५ ।।

सृष्टिसंहारकचौरा भ्रमन्तौ राशिभास्करौ ।
नभोवायुश्च वन्हिश्च जलं पृथ्वी तथैव च ।। १०६ ।।

भैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणिदेहतः ।
मेरूं संवेष्ट्य सर्वत्रं व्यवहारः प्रवर्तते ।। १०७ ।।

जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः
ब्रह्मांण्ड संज्ञके देहे यथादेश व्यवस्थितम् ।। १०८ ।।

मेरूश्रृंगे सुधारश्मि द्विअष्टकलया युतः ।
वत्तृतेऽहर्निशं सोऽपि सुधावर्षत्यधोमुखम् ।। १०६ ।।

ततोऽमृतं द्विधाभूत यातिसूक्ष्मं यथा च वै ।
इड़ामार्गेण पुष्ट्यर्थं याति मन्दाकिनी जलम् ।। ११० ।।

पुष्णाति सकलं देहं इडामार्गेण निःसृतम् ।
एषा पीयूष रश्मि र्हि वामपार्श्वे व्यवस्थितः ।। १११ ।।

अपरः शुभ्र दुग्धोयो हर्षाकिर्षितमंडलः ।
मध्यमार्गेण सृष्ट्यर्थं मेरो संयाति चन्द्रमा ।। ११२ ।।

मेरूमूले स्थितः सूर्यः कलाद्वादश संयुताः ।
दक्षिणे पथि रश्मिभिः वहति ऊर्ध्व प्रजापतिः ।। ११३ ।।

पीयूष रश्मि निर्यासं धातुश्च ग्रसति ध्रुवम् ।
समीरमंडलैः सूर्योः भ्रमते सर्वविग्रहैः ।। ११४ ।।

एषः सूर्यः परामूर्तिः निर्वार्ण दक्षिणे पथि ।
वहते लग्न योगेन सृष्टि संहारकारकः ।। ११५ ।।

सार्ध लक्षत्रयंनाड्यः सन्तिदेहान्तरे नृणाम ।
प्रधानभूताः नाड्यस्तु तासुसन्ति चतुर्दश ।। ११६ ।।

सुषम्नेडापिंगला च गांधारी हस्ति जिह्विका ।
कुह सरस्वती पूषाशंखिनी च पयस्विनी ।। ११७ ।।

वारूण्यलम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी ।
एतासु तिस्त्रो मुख्याः स्युः पंगलेडा सुषुम्निकाः ।। ११८ ।।

तिसृष्वेका सुषुमैव सुख्या सा योगिबल्लभा ।
अन्यास्तु चाश्रयं कृत्वा नाडय सन्ति हि देहिनाम् ।। ११९ ।।

नाड्यस्तु ता अधोवदनाः पद्मवन्तु निभाः स्थिताः ।
सोम सूर्याग्नि रूपिण्यः पृष्ठवंशम् समाश्रिताः ।। १२० ।।

तासां मध्यगता नाड़ी चित्रा स्यात् ममबल्लभा ।
ब्रह्मरन्ध्रे च तत्रैव सूक्ष्मात्सूक्ष्म तरंगिता ।। १२१ ।।

पंचवर्णोज्ज्वला शुद्धा सुषुम्नामध्य चारिणी ।
देहस्य उपाधि रूपा सा सुषुम्ना भिन्न रूपिणी ।। १२२ ।।

दिव्यमार्गोऽयं प्रोक्तम् अमृताकार कारकः ।
ध्यानमार्गेण योगीन्द्रो दुरितौधम् विनाशयेत् ।। १२३ ।।

गुदात द्वयमङ्गुल मूर्ध्वे मेद्रधोद्वयंगुलात् परे ।
चतुरङ्गुल विस्तारो आधारो वर्तते समः ।। १२४ ।।

तस्मिन्नाधारप्राधोज कर्णिकायां सुशोभना ।
त्रिकोणा वर्तते योनिः सर्वत तन्त्रेषु गोपिता ।। १२५ ।।

तत्र विद्युल्लताकारा कुंडली परदेवता ।
याष्टप्रकारा कुटिला सुषुम्नाभगसन्निभा ।। १२६ ।।

जगन्संसृष्टि रूपा सा निर्माणेसततोद्यता ।
वाचाह्यवाच्या वाग्देवी सदा दैवैः नमस्कृता ।। १२७ ।।

इडा नाम्नी तु या नाडी वामकार्णे व्यवस्थिता ।
मध्य नाडी समाश्लिष्य वामनासापुट गता ।। १२८ ।।

पिंगला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता।
सुषुम्नां सा समाश्लिष्य दक्ष नासापुटे गता।। १२६।।

इडापिंगलर्योमध्ये सुषुम्ना या भवेत्खलु।
षड्स्थानेषु षट्चक्रं षटपद्म योगिनो विदुः।। १३०।।

पंचस्थानानि सुषुम्नाया ......................।
प्रयोजनवशत्तानि ज्ञानव्यानि इहशांस्त्रकः।। १३१।।

अन्याचेहापरा नाडी मूलाधारात् समुत्थिता।
रचना मेढ्रनयनपादांगुष्ठञ्व शोभकम्।। १३२।।

दक्षिनेत्रागुंष्ठकर्णान् सर्वागंपायुकुक्षिकम्।
लब्ध्वा निवर्तते सा वै यथादेश समुद्मवा।। १३३।।

एतेभ्यः एस नाडीं सा तां पश्यन्ति क्रमाब्दुधाः।
सार्ध लक्षत्रयं जाता यथाभाग व्यवस्थिता।। १३४।।

ऐता भोगवहा नाड्यो वायुसंचार दक्षकाः।
प्रोताप्रोताभि संख्या ताः तिष्ठन्त्यस्मिन् कलेवरे।। १३५।।

सूर्यमंडल मध्यस्थः कलाद्वादशसंयुतः।
वस्तिदेशे ज्वलद्वन्हिवर्तते चात्र पाचकः।। १३६।।

वैश्वानराग्नि रेवात्र ममतेजोऽशसम्भवः।
करोति विविधं पाकं प्राणिनां देहमास्थितः।। १३७।।

आयु प्रदायको बन्हिर्बलं पुष्टिं ददाति च।
शरीरपाटवं चापि हत्ररोग समुद्मवः।। १३८।।

तस्माद्वैश्वानराग्निं च प्राज्वाल्यविधिवत् सुधी।
तत्रान्नं जुहुयात योगीप्रत्यहं गुरु शिक्षया।। १३६।।

ब्रह्माण्ड संज्ञके देहे स्थानानि स्थु बहूनि च।
मयोक्तानि प्रधानानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रके।। १४०।।

नानाप्रकार नामानि स्थानानि विविधानि च।
वर्तन्ते विग्रहे तानि, वक्तुं शक्यन्ते न च।। १४१।।

इत्थं प्रकल्पियते देहे, देहे वसति सर्वगः ।
अनादि वासनामालालंकृतः कर्मश्रृंखला ।। १४२ ।।

नानाविध गुणोपेतः सर्वव्यापारकारकः ।
पूर्वार्जितानि कर्माणि भुनक्ति विविधानि च ।। १४३ ।।

यद्यत् संदृश्यते लोके सर्वं तत्कर्म संभवम् ।
सर्वान् कर्मानुसारेण जन्तुभोगान् भुनक्ति वै ।। १४४ ।।

ये ये कामादयो दोषाः सुखदुःख प्रदायकाः ।
ते ते सर्वे प्रवर्तन्ते जीवे कर्मानुसारतः ।। १४५ ।।

पुण्योपरक्तं चैतन्यं प्राणान् प्रायाति केवलम् ।
वाहये पुण्येत्वधं प्राप्य भोज्यवस्तु स्वयं भवेत् ।। १४६ ।।

ततः कर्मबलात् पुंसः सुखं वा दुःखमेव च ।
पापारक्तम् चैतन्यं नैव तिष्ठति निश्चितम् ।। १४७ ।।

न तद्भिन्नो भवेत् सोऽपि तद्भिन्नं न तु किंचन ।
मयोपहित चैतन्यात् सर्वं वस्तु प्रजायते ।। १४८ ।।

यथाकालोपभोगोऽयं जन्तुना विविधोद्भवम् ।
यथा दोषवशात् सुक्तौ रजतारोपणां भवेत् ।। १४९ ।।

तथा स्वकर्मदोषात्वै ब्रह्मण्यारोप्यते जगत् ।
तद् वासनाभ्रमोद्भपन्नं मूलं नास्ति समर्थितम् ।। १५० ।।

उत्पन्नं दृश्यते यद्वै ज्ञानं तन्मोक्षसाधनम् ।
साक्षाद्विशेषदृष्टिस्तु साक्षात्कारिणिविभ्रमे ।। १५१ ।।

कारणं नान्यथयुक्त्या सत्यं सत्यं मयोदितम् ।
साक्षात्कारि भ्रमो साक्षात् साक्षात्कारिणि नाशयेत् ।। १५२ ।।

सोहि नास्तीति संसारे भ्रमो नैव निर्वतते ।
मिथ्या ज्ञानि वृत्तिस्तु विशेष दर्शनोद्भवेत् ।। १५३ ।।

अन्यथा च निवृत्तिस्याद् दृश्यते रजत भ्रमः ।
यावन्नउत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरंजने ।। १५४ ।।

तावत् सर्वाणि भूतानि दृश्यन्ते विविधानि च।
यदा कर्मार्जितो देहो निर्वाण साधनां भवेत्।। १५५।।

तदा शरीरवहनं सुफलं स्यान्नचान्यथा।
यादृशी वासनामाला वर्तते जीवसंगिनी।। १५६।।

यादृशं चरते जन्तु कृत्याकृत्य विधौभ्रमम्।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेदयोगसाधकः।। १५७।।

कृत्वा वर्णाश्रमं कर्म फलवर्जनमाचरेत्।
विषयासक्त पुरुषाः विषयेषु सुखेप्सिवः।। १५८।।

बचोभिः रुद्धानिर्वाणाः वर्तन्ते पापकर्मणि।
आत्मानमात्माना पश्यन्न किञ्चिदिह पश्यति।। १५६।।

तदा कर्म परित्यागे न दोषोऽस्ति मतं मम।
कामादेव विलीयन्ते ज्ञानादेव न चान्यथा।। १६०।।

अभावे सर्वतत्वानां समं तत्वंप्रकाशते।
हृद्यस्ति पंकज दिव्यं दिव्यलिंगेन भूषितं।। १६१।।

कादिगंताक्षरोपेतं द्वादंशारं सुशोभितं।
प्राणो वसतितत्रैव वासनाभिरलंकृतः।। १६२।।

अनादि कर्म संश्लिष्टः प्रोक्तोऽहंकार संयुतः।
प्राणस्य वृत्तिभेदेन, नामानि विविधानि च।। १६३।।

वर्तन्ते तानि सर्वाणि,वक्तुं शक्यन्ते न च।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानश्च पंचमः।। १६४।।

नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनंजयः।
दशनामानि मुख्यानि मयोक्तानीह शास्त्रके।। १६५।।

कुर्वन्ति तेऽत्र कार्याणि प्रेरिताश्चैव कर्मभिः।
अत्रापि वायवः पंचमुख्यास्तु दशतः पुनः।। १६६।।

तत्रापिं श्रेष्ठकत्तारौ प्राणापानमयोदितौ।
हृदय प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमंडले।। १६७।।

उदानः कण्ठदेशे स्याद्व्यनः सर्वशरीरजः ।
नागादि वायवः पञ्चकुर्वन्त्यत्र हि विग्रहे ।। १६८ ।।

उग्द्वारोन्मीलं क्षुद्वै जृम्महिक्का पंचकम् ।
अनेनविधिना यो वै ब्रह्माण्डं वेत्ति विग्रहम् ।। १६६ ।।

सर्व पविनिर्मुक्त सर्वो यपाति परां गतिम् ।
अधुना कथयिष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।। १७० ।।

यज्ज्ञात्वा नावसीदन्ति योगिनो योगसाधने ।
भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्र समुद्रवा ।। १७१ ।।

अन्यथा फलहीना स्यात् निर्वीर्याप्यति दुःखदा ।। १७२ ।।

गुरु संतो ययत्नेन यो वै विद्यां उपासते ।
अविलम्वे विद्यायः तस्याः फलमवाप्नुयात् ।। १७३ ।।

गुरुर्पिता गुर्रुमातागुरुर्देवो न संशयः ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्माच्छिष्यै प्रसेव्यते ।। १७४ ।।

गुरूप्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मना ।
तस्मात्सेको गुरुनित्यमन्यथा न शुभं भवेत् ।। १७५ ।।

प्रदक्षिणा त्रयं कृत्वा स्पृष्ट्वा सव्येन पाणिना ।
अष्टांगेन नमस्कुर्याद्गुरू पादसरोरूहम् ।। १७६ ।।

श्रद्धायत्नवतीं पुसां सिद्धि भवति निश्चिता ।
अन्येषाञ्च न सिद्धि स्यात् तस्माद्यत्नेन साधयेत् ।। १७७ ।।

न भवेत् संघ युक्ताना तथा विश्वासिनांमपि ।
गुरु पूजाविहीनानां तथा च बहुसंगिनाम् ।। १७८ ।।

मिथ्यावादरतानाश्च तथा निष्ठुरभाषिणाम् ।
गुरु संतोषहीना ना न सिद्धिः स्यात् कदाचन ।। १७६ ।।

फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम् ।
द्वितीयं श्रद्धया युक्तं तृतीयं गुरुपूजनम् ।। १८० ।।

चतुर्थं समताभावः पञ्चमेन्द्रियनिग्रहः ।

षष्ठं च प्रमिताहारः सप्तमं नैव विद्यते ।। १८१ ।।

योगादेशमिमं प्राप्य लब्ध्वा योगविदं गुरुम् ।
गुरुपदिण्ट विधिना धिया निश्चित्य साधयेत् ।। १८२ ।।

सुशोभनो भवेद्योगी पद्मासन समन्विता ।
आसनोपरि संविश्य पवनाभ्यासमाचरेत् ।। १८३ ।।

समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणाल्य च गुरुन् सुधीः ।
दक्षे वामे च विध्नेशं क्षेत्रपालम्बिकां पुनः ।। १८४ ।।

ततः स्वदक्षांगुष्ठेन निरुध्य पिंगलां सुधीः ।
इडया पूरायेद्वायु यथा शक्या तु कुंभयेत् ।। १८५ ।।

ततः त्यक्त्वा पिंगलया शनैरेव न वेगतः ।
पुनः पिङ्गलया पूर्वं यथाशक्त्यां च कुंभयेत् ।। १८६ ।।

इड्या रेचयेद्धीमान्न वेगेन शनैः शनै ।
एवं योग विधानेन कुर्याद्विंशति कुंभकाद् ।। १८७ ।।

सर्वद्वन्दविनिर्मुक्तः माहवै विगतालसः ।
प्रातःकालं च मध्याह्ने सूर्यास्तेचार्धरात्रिके ।। १८८ ।।

कुर्यादिवं चर्तुवारं काले श्वेतेषु कुंभकान् ।
इत्थं नासत्रयं कुर्यादिनस्यो दिने दिने ।। १८९ ।।

ततो रवै नाड़ि शुद्धिस्यादविलम्बेन निश्चितम् ।
यदा तु नाड़ि शुद्धिस्याद्योगिनस्तत्वदर्शिनः ।। १९० ।।

तदा विध्वस्तपापस्य भवेदारम्भ संभवः ।
चिन्हानि योगिनो देहे दृश्यन्ते नाड़िशुद्धितः ।। १९१ ।।

कथ्यन्ते तु समन्तात्तान्यङ्गे संक्षेपतोमया ।
समकायः सुगन्धि श्च सुकान्ति सुरसाधकः ।। १९२ ।।

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयस्तथा ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्थाः भवन्ति ताः ।। १९३ ।।

आरम्भ कथितोऽस्माभिरधुना वायुसिद्धये ।

अपरः कथ्यते पश्चात् सर्वदुःखौधनाशकः ।। १६४ ।।

प्रौढवन्हि सुभोजिश्च सुखी सर्वाङ्ग सुन्दरः ।
सम्पूर्णाहृदयः योगी सर्वोत्साह बलान्वितः ।। १६५ ।।

जायन्ते योगिनो वश्यमेते सर्वे कलेवरे ।
अथ वर्ज्यं प्रवक्ष्यामि योगविध्नकरं परम् ।। १६६ ।।

येन संसार दुःखाधिं तीर्त्वा यास्यन्ति योगिनः ।
अम्ल रूक्ष तथा तीक्ष्णां लवणां सर्षपं कटु ।। १६७ ।।

वहुश्च भ्रमणं प्रातःस्नानं तैल विदाहकं ।
स्तेयश्च परद्वेषश्च अहंकारमनार्जवम् ।। १६८ ।।

उपवासमसत्यञ्च मेचकम् प्राणिपीडनम् ।
स्त्री सङ्गाग्नि सेवाश्चवहृगालापं प्रियाप्रियम् ।। १६६ ।।

अतीवभोजनं योगीत्यजेदेत्तानि लक्षणम् ।
उपायाञ्च प्रवक्ष्यामि क्षिप्रं योगस्यसिद्धये ।। २०० ।।

गोपनीयं सुसिद्धानां येनसिद्धर्भवेत्खलु ।
क्षीरं घृतञ्च मिष्ठान्नं ताम्बूल चूर्णवर्जितम् ।। २०१ ।।

कर्पूरं विष्ठरं मिष्टं सुभवं सूक्ष्मवस्मकम् ।
सिद्धान्त श्रवणं नित्यं वैरांग्य गृह सेवते ।। २०२ ।।

नाम संकीर्तनं विष्णोः सुनादश्रवणं परम् ।
धृति क्षमा तपश्शौचं ह्रीमति गुरुसवनम् ।। २०३ ।।

सदेतानि परं योगी नियमानि समाचरेत् ।
अनिलेऽर्क प्रविष्टे च भोक्तव्यं योगिभिः सदा ।। २०४ ।।

वामौ प्रविष्टे शशिनि शयनं साधकोत्तमैः ।
सद्यो भुङक्तेऽपि सुधि ते नाभ्यासः क्रियते बुधैः ।। २०५ ।।

अभ्यासकाले प्रथमं धृतंक्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तादृक् नियमग्रहः ।। २०६ ।।

अभ्यासिना च भोक्तव्यं स्तोकं स्तोकं अनेकधा ।

पूर्वोक्त कालेषु कुर्यात् कुम्भकान् प्रतिवासरम् ।। २०७ ।।
ततो यथेष्ठ शक्तिः स्याधोगिनोवायु धारिणे ।
यथेष्ठ धारणाद्वायोः कुम्भकः सिध्यतिध्रुवम् ।। २०८ ।।

केवले कुम्भके सिद्धे किं न स्यादिह योगिनः ।
स्वेदः संजायते देहे योगिनः प्रथममेदिने ।। २०९ ।।

यथा संजायते स्वेदो मर्दनं कारयेत् सुधी ।
अन्यथा विग्रहं धार्तुनष्टो भवति योगिनः ।। २१० ।।

भवति द्वितीय कंपाधतुरोमधामे मतः ।
ततोऽधिकाराभ्यासादगगने साधिकाधिका ।। २११ ।।

योगी पद्मासनस्थोऽपि भुवमुसृज्य वर्तते ।
वायु सिद्धिस्तदाज्ञेया संसारध्वांत नाशिनी ।।

तावत्कालं प्रकुर्वीत योगोक्तनियमं ग्रहम् ।
अल्पनिद्रा पुरीषं च स्तोकं मूत्र च जायते ।। २१२ ।।

आरोगिद्यमुदीनत्वं योगिनस्तत्वदर्शिभिः ।
स्वेदोलाला कृमिश्चैव सर्वथैव न जायते ।। २१३ ।।

कफपित्तानिलाश्चैव साधकस्यकलेवरे ।
तस्मिन् काले साधकस्य भोज्येषु नियम ग्रहः ।। २१४ ।।

अत्यल्पं बहुवा भुक्तो योगी न व्यथते हि सः ।
अद्याभ्यास वशाद्योगी भूचरी सिद्धिमाप्नुयात् ।। २१५ ।।

येनदुर्घर्ष जन्तूनां मृतिस्याद्वान ताडनात् ।
सत्यत्र बहवो विघ्नैः दारूणाः दुर्निवारणा ।। २१६ ।।

तथापि साधयेत् योगी प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
ततोरहस्थुपाविष्ठः साधकः संजितेन्द्रिय ।। २१७ ।।

प्रणवं प्रजपेत् दीर्धं विध्नानां नाशहेतवे ।
पूर्वार्जितानि कर्माणि प्राणायामेन निश्चितम् ।। २१८ ।।

नाशयेत् साधको धीमन्तिहलोके भवानि च ।

पूर्वार्जितानि पापानि पुण्यानि विविधानि च।। २१९।।
नाशयेत् षोडशप्राणायामेन योगिपुंगवः
! ायातूयाचलानाहो प्रदहेत्प्रलयाग्निना।। २२०।।

ततः पापविर्निमुक्तो योगी पुण्णयानि नाशयेत्।
प्राणायामेन योगीन्द्रो लब्धैश्वर्याष्टकानि वै।। २२१।।

पाप पुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैलोक्येसेश्वरतामि याति।
ततोऽभ्यास क्रमेणैव धटादि त्रितयं भवेत्।। २२२।।

येनस्यात् सकला सिद्धिर्योगिनः स्वेक्षिता ध्रुवम्।
वाक्सिद्धिः कामचरितं दूरदृष्टि तथैव च।। २२३।।

दूरश्रुति सूक्ष्मदृष्टिः परकायप्रर्वेशनम्।
विष्ठा मूत्रलेपेन स्वर्णामदृश्य करणं तथा।। २२४।।

भवन्त्येतानि महतां खे चरत्वं च योगिनां।
यदा भवेत् घटावस्था पवनाभ्यासिनः परा।। २२५।।

तदा संसारचक्रेऽस्मिनृतत्रास्ति यन्नासाध्येत्।
प्राणापान नादविन्दुं जीवात्मपरमात्मना।। २२६।।

मिलित्वा घटते यस्मात् तस्माद्वैघट उच्यते।
पानमासं सद्यधर्तुम् समर्थःस्याद् अतन्द्रितः।। २२७।।

प्रत्याहारतदैव स्यात् नान्तरा भवति ध्रुवम्।
यं यं जानति योगिन्द्रः तमतमात्मेति भावयेत्।। २२८।।

यरिन्द्रियैः विधानज्ञस्ततदिंन्द्रिय जयो भवेत्।
याम मात्रं यदा पूर्णं भवेदभ्यास योगतः।। २२९।।

एक बारं प्रकुर्वीत यदा योगि च कुंभकम्।
दंडाष्टकं यदा वायुः निश्चलो योगिनो भवेत्।। २३०।।

स्वसामर्थ्यतदांगुष्ठे निष्ठेत् वा तूलवत् सुधी।
ततः परिचयावस्था योगिनोभ्यासतो भवेत्।। २३१।।

यो वै वायुश्रन्द्रसूर्यम् त्यक्त्वातिष्ठन्ति निश्चलः।

वायोः परिचितो वायुः सुपुम्नाव्योम्नि संचरेत् ।। २३२ ।।
क्रिया शक्तिं गृहीत्वैव चक्रान् भित्वा च निश्चितम् ।
यदा परिचयावस्था भवेदभ्यास योगतः ।। २३३ ।।

त्रिकूट कर्मणांयोगी तदापश्यति निश्चितम् ।
ततश्च कर्मकूटानि प्रणावेन विनाशयेत् ।। २३४ ।।

स योगी कर्म भोगाय कायव्यूह ममाचर्रत् ।
अस्मिन् काले महायोगी पंचधा धारणाचरेत् ।। २३५ ।।

येन भूतादिसिद्धिः स्यात्त्तद्भुतभयापहा ।
आधारे घटिकापंच नाभि हृहन्मस्तके तथा ।। २३६ ।।

तदूर्ध्वं घटिकापंच नाभि हृहन्मस्तके तथा ।
भ्रूमध्योर्ध्वे तथा पंचघटिका धारयेत्सुधी ।। २३७ ।।

तथा भूतादिना नष्टोयोगीन्द्रो न भवेत्खलु ।
मेधावी पंच्भूतानां धारणाम् यःसमभ्यसेत ।। २३८ ।।

शतब्रह्मामृतेनापि मृत्युःतस्य न विद्यते ।
ततोऽभ्यासक्रमेणैव निष्पत्ति र्योगिनो भवेत् ।। २३६ ।।

अनादि कर्मबीजानि येन तीर्त्वाऽमृतं पिबेत् ।
यदा निष्पत्ति र्भवति समाधिस्थेन कर्मणा ।। २४० ।।

जीवन्मुक्तस्य शान्तस्य भवेत् धीरस्य योगिनः ।
यदानिष्पत्ति सम्पन्नः समाधिः स्वेच्छया भवेत् ।। २४१ ।।

गृहीत्वा चेतनावायुः क्रियाशक्तिश्च वेगवान् ।
सर्वान् चक्रान् विजित्याशु ज्ञानशक्तौ विलीयते ।। २४२ ।।

इदानीं क्लेशहान्यर्थं वक्तव्यं वायुसाधनम् ।
येनसंसार चक्रेऽस्मिन् रोगहानिर्भवेदध्रुवम ।। २४३ ।।

रसनां तालु मूले यः स्थापयित्वा विपश्चितः ।
पिबेत् प्राणाानिलं रोगाणां संक्षयो भवेत् ।। २४४ ।।

काकजिह्वाः पिबेत वायु शीतलं यो विचक्षणाः ।

प्राणापान विधानज्ञः स भवेत् मुक्ति भाजनम् ।। २४५ ।।

सरसं यः पिवेद्वायुं प्रत्यहं विधिना सुधी ।
नश्यन्ति योगि तस्य श्रमदाहज्वरामयाः ।। २४६ ।।

रसना ऊर्ध्वगाकृत्त्वा यश्चन्द्र सलिलं पिबेत् ।
मासमात्रेण योगीन्द्रो मृत्युञ्जयति निश्चितम् ।। २४७ ।।

राजदन्तविलं गाढं सम्पीड्य विधिनापिबेत् ।
ध्यात्वा कुण्डलिनीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत ।। २४८ ।।

काकचञ्च्वा पिबेत् वायुं संधयोरूभयोरपि ।
कुण्डलिन्या मुखं ध्यात्वा क्षयरोगस्य शान्तये ।। २४६ ।।

अहर्निशं पिबेद्योगी काकचञ्च्वा विपश्चितः ।
दूरश्रुति दूरदृष्टिः यथास्यादशनं खलु ।। २५० ।।

दन्तैर्दन्तान् समापीड्य पिबेद्वायु शनैश्शनैः ।
ऊर्ध्वजिहः समेधावी मृत्युज्जयतिसोऽचिरात् ।। २५१ ।।

षण्मासमात्रमभ्यास यः करोति दिने दिने ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो रोगान् त्रसयते हि सः ।। २५२ ।।

संवत्सरं कृताभ्यसाद् भैरवो भवति ध्रुवम् ।
अणिमादि गुणान् लब्ध्वा जितभूतगणा स्वयमम् ।। २५३ ।।

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
क्षेणेन मुच्यते योगी व्यांधि मृत्यु जरादिभिः ।। २५४ ।।

रसनां प्राणासंयुक्ता पीड्ययमानां विचिन्तयेत् ।
न तस्य तायते मृत्यु सत्यं सत्यं मयोदितम् ।। २५५ ।।

एवमभ्यासयोगेन कामदेव द्वितीयकः ।
न क्षुधा न तृषा निन्द्रा नैव मूर्च्छा प्रजायते ।। २५६ ।।

अनेनैव विधानेन योगीन्द्रोऽवनि मण्डले ।
भवेत्स्वछन्दचारी च सर्वापत्परिवर्जितः ।। २५७ ।।

न तस्य पुनरावृत्तिः मोदते स सुरैरपि ।

पुण्य पापेन लिप्येत् ह्येतदाचरणेन सः ।। २५८ ।।
चतुराशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च ।
तेभ्यश्चतुराण्यादाय मयोक्तनि ब्रवीम्यहम् ।। २५९ ।।

योनी संपीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः ।
मेढ्रोपरिपाद मूलं विन्यसे द्यगवित् सदा ।। २६० ।।

दृष्ट्वा निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलं सञ्जितेन्द्रियः ।
विशेद्वक्रकायश्च रहस्युद्वेग वर्जितः ।। २६१ ।।

एतत् सिद्धासनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
एनाभासवशात् शीघ्रं योगी निष्पति मापुयात् ।। २६२ ।।

सिद्धासनं सदा सेव्यं पवनाभ्यासिना परम् ।
येन संसारमुत्सृज्य लभते परमां गतिम् ।। २६३ ।।

नान्तः परतरं गुह्यमासनम् विद्यते भुवि ।
येनानुध्यान मात्रेणयोगी पापाद्विमुच्यते ।। २६४ ।।

उत्तानौचरणौ कृत्वा उरु संस्थौ प्रयत्नतः ।
उरू मध्ये तथोत्तानौ पाणीकृत्वा ततो दशौ ।। २६५ ।।

नासाग्रे विन्यसेत् राजदंतमूलं च जिहूया ।
उन्नम्य चिवुकं वक्षे संस्थाप्य पवनं शनैः ।। २६६ ।।

यथाशक्त्या समाकृष्यापूरयेदुदरं शनैः ।
यथाशक्येव पश्चात्तु रेचयेदतिरोधतः ।। २६७ ।।

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधि विनाशनं ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते परम् ।। २६८ ।।

अनुष्ठाने कृते प्राणो समश्चलतितत्क्षणात् ।
भवेदभ्यासेन सम्यक् साधकस्य न संशयः ।। २६९ ।।

पद्मासनं स्थितोयोगी प्राणापो विधानतः ।
पूरयेत्स विमुक्तः स्यात् सत्यं सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।। २७० ।।

प्रसार्य चरणाद्वतं परस्परसंयुतम् ।

स्वप्राणिभ्यां दृढ़ धृत्वा जानूपरि शिरोन्यसेत् ।। २७१ ।।

आसनाग्रमिदं प्रोक्तं जठरानलदीपनं ।
देहावसाद हरणं पश्चिमोत्तान संज्ञकम् ।। २७२ ।।

य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत्सुधी ।
वायु पश्चिम मार्गेण तस्य सञ्चरति ध्रुवम् ।। २७३ ।।

एतदभ्यासशीलानां सर्वसिद्धिः प्रजायते ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत् सिद्धसाधकः ।। २७४ ।।

गोपीनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
येन शीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद्दुःखौधनाशिनी ।। २७५ ।।

जानूवन्तरे सम्यक् कृत्वा पदतले उभे ।
समकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रवक्षते ।। २७६ ।।

अनेन विधिनायोगी मारुतं साधयेत्सुधी ।
देहे न क्रमते व्याधिः तस्य वायुश्च सिध्यति ।। २७७ ।।

सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःख प्रणाशनम् ।
स्वस्तिकं योगिभिः गोप्ये स्वस्थीकरणमुत्तमम् ।। २७८ ।।

आदौ पूरक योगेन स्वाधारेपूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनि तामाकुंञ्च्य प्रवर्त्तयेत् ।। २७९ ।।

ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामकंटसन्निभम् ।
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटि सुशीलतम् ।। २८० ।।

तस्योर्ध्वेतु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला ।
तथापिहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ।। २८१ ।।

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै ।
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटि सुशीलतम् ।। २८२ ।।

अमृतं तद्विसर्गस्थं परमानन्द लक्षणम् ।
श्वेतरक्त सुतेजाढ्यं धारायातैः प्रवर्षिणम् ।। २८३ ।।

पीताकुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुल ।

पुनरेवाकुलं गच्छेन्मात्रा योगेन नान्यथा ।। २८४ ।।

सत्यप्राणसमाख्याता ह्यस्मिन्तन्त्रे मयोदितम् ।
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यदि शिवान्तकम् ।। २८५ ।।

योनि मुद्रा पराह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ।
तस्यास्तु वंधमात्रेण तत्रास्ति यत्र साधयेत् ।। २८६ ।।

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्रा कीलिता स्तम्भिताश्च ये ।
दग्ध मंत्रा शिखाहीना मलिनास्तु तिरस्कृता ।। २८७ ।।

मेदिता र्भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्च्छिताश्च ये ।
मंदाबाला तथा वृद्धाः प्रौढ़ा यौवनगर्विता ।। २८८ ।।

अरिपक्षेस्थिता ये च तिवीर्या सत्वसवर्जिताः ।
तथा सत्वेहीना ये खंडिताः शतधा कृताः ।। २८९ ।।

यद्यदुच्चरते योगी मन्त्ररूपम् शुभाशुभम् ।
तत्तत्सिद्धिभिवाप्नोति योनिमुद्रा निवन्धनात् ।। २९० ।।

विधानेन च संयुक्ताः प्रभवन्ति चिरेण तु ।
सिद्धि मोक्षप्रदाः सर्वेगुणाऽप्ति विनियोजिताः ।। २९१ ।।

दीक्षयित्वा विधानेन अभिसिञ्चा सहस्त्रधा ।
ततो मन्त्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्त्तिता ।। २९२ ।।

ब्रह्महत्या सहस्त्राणि त्रैलोक्यमभिधातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रा निबन्धनात् ।। २९३ ।।

गुरुहा च सुरापी च स्तेपि च गुरुतल्पगः ।
एतैयायैर्न वध्यन्ते योनिमुद्रा निबन्धनात् ।। २९४ ।।

तस्मादभ्यासंनित्यं कर्त्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः ।
अभ्यासाज्जायते सिद्धिः अभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ।। २९५ ।।

संवित्तम् लभतेऽभ्यासात्धोगोऽभ्यासात्प्रर्वर्त्तते ।
मंत्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायु साधनः ।। २९६ ।।

कालवंचनमभ्यासायथा मृत्युञ्जो भवेत् ।

वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः।। २९७।।

योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित्।
सर्वथा नैव दातव्य प्राणौः कण्ठगतैरपि।। २९८।।

अधुनाकथयिष्यामि योगं सिद्धिकरं परम्।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परम दुर्लभम्।। २९९।।

सुप्ता गुरु प्रसादेत यदा जागर्ति कुण्डली।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधसा महेश्वरी।। ३००।।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधसा महेश्वरी।
ब्रह्मरंध्र मुखे सुप्ता मुद्राभ्यासं समाचारेत्।। ३०१।।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीत कृतिस्तथा।। ३०२।।

उड्डयानश्चैव वज्रोलीं दशमं शक्तिचालनम्।
इदम् हि मुद्रा दशकं मुद्राणा मुत्तमोत्तमम्।। ३०३।।

महामुद्रा प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन् मम बल्लमां।
यां प्राप्य सिद्धि कपिलाद्याा पुरागताः।। ३०४।।

अपसव्येन सम्पीड्य पादमूलेन सादरम्।
गुरुपदेशतो योनिं गुदमेढ्रातंरालयाम्।। ३०५।।

सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणि युगेन वै।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि।। ३०६।।

चिंत्त पयेद्दच्वा प्रारभेद्वायुधारणम्।
महामुद्रा भवेदेषा सर्वतंत्रेषु गोपिता।। ३०७।।

वामांगेन समभ्यस्य दशाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियत मानसः।। ३०८।।

मुद्रामेतां तु संप्राप्य गुरुवक्त्रात्सुशोभितम्।
अनेन विधिना योगी मदभाग्योऽपिसिध्यति।। ३०९।।

..................नाडीनाञ्चालनं बिन्दुधारणं।

जारणं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम् ।। ३१० ।।

कुण्डली तापनं वायोः ब्रह्मरन्ध्रे प्रसेवनम् ।
सर्वरोग प्रशमनं जठराग्नि विवर्धनम् ।। ३११ ।।

वपुषः कान्तिममलां जरामृत्युविनाशिनम् ।
वाञ्छितार्थ फलं सौख्यमिन्द्रियाणांञ्चमारणाम् ।। ३१२ ।।

एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतो वश्ये नात्रकार्या विचारणा ।। ३१३ ।।

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिता ।
यां च प्राप्य भवाम्भोधेः यानमिच्छन्ति योगिनः ।। ३१४ ।।

**गुप्ताचार प्रकर्त्तव्यो** न देया यस्यकस्यचित् ।
**तस्या प्रसारितः** पादो विन्यस्यतदुपरि ।। ३१५ ।।

गुदयोनी समाकुञ्च्य कृत्वा पावकमूर्ध्वकम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ।। ३१६ ।।

कथितोऽयम् महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ।
नाडिजालादसव्यूहं मूर्ध्वं नयन्ति योगिनः ।। ३१७ ।।

उभाम्यां साधयेत्पद्भ्यां एकैकं सुप्रयत्नतः ।
भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्ना मध्यसंगता ।। ३१८ ।।

अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थि पंजरः ।
सम्पूर्ण हृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।। ३१९ ।।

बन्धेनानेन योगीन्द्रस्साधयेत्सर्वमीप्सितम् ।
अपान प्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेष्वपि ।। ३२० ।।

महावेधस्थितो योगी कुक्षमापूर्य वायुना ।
स्फीतौसंताडऽयेद्धिमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया ।। ३२१ ।।

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुगवः ।
ग्रंथीन् सुपुम्नामार्गेण ब्रह्मरंध्रं भिनन्त्यसौ ।। ३२२ ।।

यः करोति सदाभ्यास महावेधं सुगोपितम् ।

वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरण नाशिनीम् ।।
चक्रमध्ये स्थितिः देवाः कम्पन्ते वायुताड़नात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ।। ३२३ ।।

महामुद्रा महाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ।। ३२४ ।।

एतत् त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वा करोति यः ।
षण्मासाभ्यन्तरे मृत्युञ्जयत्येव न संशयः ।। ३२५ ।।

एतत् त्रयस्य माहत्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ।
यज्ज्ञीत्वा साधकास्सर्वे सिद्धिं सम्यक् लभन्ति च ।। ३२६ ।।

गोपनीयं प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः ।
अनाभ्यासान्न सिद्धिं स्यात् मुद्राणामेष निश्चयः ।। ३२७ ।।

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढं सुधी ।
उपविश्यासने तेन नानोपद्रव वर्जितं ।। ३२८ ।।

लम्बिकोर्ध्वे स्थिते गर्त्ते रसनां विपरीतगां ।
संयोजयोत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ।। ३२९ ।।

मुद्रैषा खेचरी प्रोक्त भक्तानाम पुरोधतः ।
सिद्धिनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकाधिका ।। ३३० ।।

निरन्तरं कृताभ्यासात् पीयूषं प्रत्यहं पिवेत् ।
ते न विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेशरी । ३३१ ।।

अपवित्रः पवित्रो वा सेर्वावस्थां गतोऽपिवा ।
खेचरीयस्य सिद्धातु ।
क्षणार्ध कुरूते यस्तुतीर्त्वा पापमहार्णवम् ।
दिवा भोगान् प्रभुक्त्वैव सत्कुलेऽयं प्रजायते ।। ३३२ ।।

मुद्रैषा खेचरी यस्तु सुस्थितोऽस्यामतंद्रिता ।
शतब्रह्मा गतेवापि क्षणार्ध मन्यतेऽपि सः ।। ३३३ ।।

गुरुपदेशतो मुद्रां यो वेन्ति खेचरीमिमां ।

नाना पापरतो धीमान् सः याति परमां गतिम् ।। ३३४ ।।

स्वप्राणैः सदृशो यस्तु तस्मादपि न दीयते।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेय सुरपूजिता ।। ३३५ ।।

वध्वा गले स्थिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
वन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभम् ।। ३३६ ।।

नाभिस्थो वह्नि धातूनां सहस्त्र कमलच्युतम् ।
पिवेत् पीयूषं विरसं तदर्थ बन्धयेदिदम् ।। ३३७ ।।

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिवति बुद्धिमान् ।
असुरत्वं च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ।।

जालन्धरो वंध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
अभ्यासात् क्रियते सिद्धं योगिनः सिद्धिमिच्छताम् ।। ३३८ ।।

पादमूलेन संपीडय गुदमार्ग सुमंत्रितः ।
बलादपानमाकृष्ट्य क्रमाद्बन्धं समाचरेत् ।। ३३९ ।।

कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरण नाशनः ।
अपान प्राणयोरैक्यं यः करोत्यधिकंपितम् ।। ३४० ।।

बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिध्यति ।
सिद्धानां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ।। ३४१ ।।

बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानलः ।
पद्मासन स्थितो योगी भुवमुयसृज्य वर्तते ।। ३४२ ।।

सुसुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसार सागरं तर्तुं यदिच्छेद्योगिपुंगवः ।। ३४३ ।।

भूतले स्वशिरो दत्वा खेनयेच्चरण द्वयम् ।
विपरीत कृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।। ३४४ ।।

एनां या कुरुते नित्यंमभ्याद्यामयमात्रकम् ।
मृत्युञ्जयति सः योगी प्रलयेनापिसीदति ।। ३४५ ।।

अमृतं कुरुते पानं सिद्धानां समताभियात् ।

संसेव्यः सर्वलोकानां वन्धमेनं करोति यः।। ३४६।।

नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत्।
उड्यानो बंध एष स्यात् सर्वदुःखौघनाशनः।। ३४७।।

उदरं पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्।
•उड्यानोपमयं बन्धो मृत्युमातंग केशरी।। ३४८।।

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिस्स्याद्येन शुद्धो भवेन्मरुत्।। ३४६।।

षण्मासाभ्यासनद्योगी मृत्युञ्कजयति निश्चितम्।
तस्योदराग्नि र्ज्वनृति रस वृद्धिश्च जायते।। ३५०।।

अनेन सुत गं सिद्धि विग्रहस्य प्रजायते।
रोगाणाम् संक्षय श्चापि योगिनो भवति ध्रुवम्।। ३५१।।

गुरोर्लब्धातु यत्नेन साधयेत विचक्षणः।
निर्जने सुस्थितौ देशे बन्धं परमदुर्लभम्।। ३५२।।

वज्रोली कथयिष्यामि संसारध्वांतनाशिनीम्।
स्वभक्तेभ्यः षट्मासेन गुह्याद्गुह्यत्तमामपि।। ३५३।।

स्वेच्छाया वर्तमानोऽपियोगोक्त नियमैर्विना।
मुक्तो भवंत् गृहस्थोऽपि वज्रोल्याभ्यसयोगतः।। ३५४।।

बज्रोल्यासह योगोऽयम् भोगमुक्तेऽपि मुक्तिदः।
प्रस्मादति प्रयत्नेन कर्त्तव्यो योगिभिः सदा।। ३५५।।

अंगिरस भयो व्यायं यत्नेन विधिवत् सुधी।
आकुंचन लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयत्।। ३५६।।

स्वकं विन्दुं च संबोध्य लिंगवालानमाचरेत्।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वम् निरूद्धो योनिमुद्रया।। ३५७।।

वामभागेपितेच्छिद्रम् भृत्यालिंग निवारयेत्।
गुरुपदेशतो योगी हूं हूं कारेण योनितः।। ३५८।।

अपानवायु माकुचन वलावकर्षयेद्रजः।

अनेनविधिनायोगी शिप्रंयोगस्य सिद्धये ।। ३५९ ।।

गव्य भुक् कुरुते योगी गुरुपादाब्ज पूजकः ।
विन्दु रिन्दुभयोज्ञेयो रजः सूर्यमयं तथा ।। ३६० ।।

योगिनां साधनवतां भवेदिव्यं वपुस्तदा ।
मरणां विन्दु पातेनजीवन विन्दु धारणे ।। ३६१ ।।

उभयं मेलनं कार्य स्वशरीर प्रयलतः ।। ३६२ ।।

अहं विन्दु रजो शक्तिरुभयोमेलनं यदा ।
तस्मादति प्रयत्नेन कुरुते विन्दु धारणम् ।। ३६३ ।।

जायते म्रियते लोको बिन्दुनानात्र संशयः ।। ३६४ ।।

एतद्दज्ञात्वासदायोगी विन्दुधारणमाचरेत् ।
सिद्धे बिन्दौमहारत्ने कि न सिध्यति भूतले ।। ३६५ ।।

यसा प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ।
बिन्दुः करोती सर्वेषाम् सुखमृदुःखम् च संस्थिति ।। ३६६ ।।

संसारिणाम् विमूढ़ानाम् जन्मामरण शालिनाम् ।
अयम् शुभकरोयोगो योगिनामतमुत्तमम् ।। ३६७ ।।

अभ्यासात् सिद्धिमाप्नोति योगे भुक्तेऽपि मानवः ।
सफलसाधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले ।। ३६८ ।।

भुक्त्वा भोगानशेषान्तै योगेनानेन निश्चितम् ।
अनेन सफला सिद्धिः योगिनां भवति ध्रुवम् ।। ३६९ ।।

सुखभोगेन महतांतरगादेन समभ्यसेत् ।
सहजोरूपमरोली च वज्रल्या भेदतो भवेत् ।। ३७० ।।

येस केन प्रकारेण विन्दुं योगिः प्रसाधयेत् ।
देवाच्चलति चेद्वेगे मेलतं चन्द्रसूर्ययो ।। ३७१ ।।

अमरोली हीयं प्रोक्तालिंगनालेन शोधयेत् ।
गतम् विन्दुं स्वकम् योगिः बंधयेद्योनि मुद्रया ।। ३७२ ।।

सहजोलीहीयं प्रोक्ता सर्वतंत्रेषु गोपिता ।

संज्ञाभेदादभूवेद्भेदः कार्ये तुल्या गतिर्यदि ।। ३७३ ।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ।
अयं योगो माया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहत परम् ।। ३७४ ।।

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयो यस्यकस्यचित् ।
एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतो न भविष्यति ।। ३७५ ।।

तस्मात् अति प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ।
स्वमूत्रौत्सर्ग काले या बलादाकृष्यवायुना ।। ३७६ ।।

स्तोकं स्तोकत्यजेत् मूत्रमाकृष्यतत्पुनः पुनः ।
गुरुपदेश मार्गेण प्रत्यहः यः समाचरेत् ।। ३७७ ।।

विन्दु सिद्धि भवेत्तस्य महासिद्धि प्रदायके ।
षण्मासमभ्यूसे ह्यवै प्रत्यहं गुरुशिक्षया ।। ३७८ ।।

शतांगनोपभोगेऽपि न विन्दु स्तस्य नश्यति ।
सिद्धे विन्दौ महारत्ने किं न सिध्यति भूतले ।। ३७६ ।।

ईशत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभम् भवेत् ।। ३८० ।।

आधारे कमले सुप्तां चालयेत् कुंडलीमिमाम् ।
अपान वायुमारूध्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।। ३८१ ।।

शक्ति चालनमेनं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयु वृद्धि भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ।। ३८२ ।।

विहाय निद्राम भुजंगी स्वयं उर्ध्वम् व्रजेत्खलु ।
तत्समादभ्यासनम् कानर्यम् योगिनां सिद्धिमिच्छिताम् ।। ३८३ ।।

यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येनविग्रह सिद्धिः स्यादणिमादि गुणप्रदा ।। ३८४ ।।

गुरुपदेश विधिना तस्य मृत्यु भयं कुतः ।
मुहूर्तद्वय पर्यन्त विधिना शक्ति चालनम् ।। ३८५ ।।

यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिर्न दूरतः ।
मुक्तासनेन कर्त्तव्यम् योगिभिः शक्ति चालनम् ।। ३८६ ।।

एतत्तु मुद्रा दशकं न भूतम् न भविष्यति।
ऐकैकाभ्यासने सिद्धो सिद्धि भवतिनान्यथा।। ३८७।।

ब्रूहि में वाक्यमीशन परमार्थधिय प्रति।
ये विघ्ना सन्ति लोकानां चेन्मयि प्रियशंकरः।। ३८८।।

### ईश्वर उवाच

श्रुणुदेवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा।
मुक्तिं प्रति नराणां च भोगः परमवंधकः।। ३८६।।

नारीशय्यासनं वस्त्रं पानीं वनमास्य विचुंबनम्।
ताम्बूलम् भक्ष्य पानानि राज्य शौर्य विभूतयः।। ३६०।।

हेमरुप्यं तथा ताम्रं रत्नान्यगुरुधेनवम्।
पांडित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतम् विभूषणम्।। ३६१।।

वंशी वीणामृदंगाश्च गजेन्द्रो चाश्ववाहनम्।
दारापत्यानि विषयानि विघ्नामेते प्रकीतिता।। ३६२।।

भोगरुपाश्चये विघ्ना उत्तम अथवा सहायकन्निमान् श्रुणु।
स्थानम् पूजातिथिर्होमस्तथा सौख्यामयोदिता।। ३६३।।

व्रतोपयास नियमामौनमिन्द्रिय निग्रहः।
ध्येयो ध्यानं तथा मंत्रोदानं ख्यातिर्दिशासु च।। ३६४।।

वापी कूप तडागादि प्रसादाराम कल्पका।
यद्वा चान्द्रायणाम् कृच्छं तीर्थानि विषयानि च।। ३६५।।

दृश्यते च इमा विघ्ना धर्मारुपेण संस्थिता।
येन विघ्नं भवेद्रानम् कथयामि वरानने।। ३६६।।

गोमुखाधासनं कृत्वा धौति प्रक्षालनं च यत्।
नाडी संचार विज्ञान प्रत्याहार निरोधनम्।। ३६७।।

कुक्षि संचालनम् क्षरीम् प्रवेश इन्द्रियध्वना।
नाडिकर्माणि कस्यापि नियमान् श्रूयतां मम।। ३६८।।

निबन्धातुरसं छिद्रं घटिकां ताडऽयेत्पुनः ।
ऐषकाल समाधिः स्यात् सांगभूतमिदम् श्रुणु ।। ३६६ ।।

संगमं गच्छ साधूनां संकोचं भजदुर्जनात् ।
प्र.ेशेनिर्गमे वार्युगुरु लक्ष्यं विलोकयेत् ।। ४०० ।।

पिण्डस्थम् रूपसंस्थम् च रूपस्थम् रूपवर्जितम् ।
ब्राह्मे ऽमिन्नमृतावस्था हृदयं च प्रशाम्यति ।। ४०१ ।।

इति एते प्रथिता विघ्ना ज्ञानरूपे व्यवस्थिता ।
मंत्र भोगोहटश्चैव लय योगस्तृतीयकः ।। ४०२ ।।

चतुर्थो राजयोगः स्यात् द्विधा भावविवर्जितः ।
चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदु मध्याधिमात्रकः ।। ४०३ ।।

अधिमात्रातमश्रेष्ठो भवाब्धौ लधिनक्षमः ।
परोत्साहि सुसंमूढो व्याधिस्था गुरुदूषकः ।। ४०६ ।।

लोभी पापमतिश्चैवं बहूशी वनिताश्रयः ।
चपलः कातरो रोगी पराधनोति निष्ठुरः ।। ४०७ ।।

मंदाचारो मंदवीर्योः ज्ञातव्यो मृदुमानवः ।
द्वादशाब्दे भवेद्सिद्धि तस्य यततः परम् ।। ४०८ ।।

मंत्रयोगेधिकारि सः ज्ञातको गुरुणा ध्रुवम् ।
समबुद्धि क्षमायुक्तः पुष्याकांक्षि प्रियंवदः ।। ४०६ ।।

मध्यस्थः सर्वकार्येषु सामान्य स्यान्नसंशयः ।
एतज्ज्ञात्वैव गुरुर्भिः दीयते युक्तितोलयः ।। ४१० ।।

स्थिर बुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि ।
शूरो वयस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्जपूजकः ।। ४११ ।।

एतस्मै दीयते धीरैर्हठयोगश्च साधकः ।
महावीर्यचितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि ।। ४१२ ।।

शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्भेदश्च निराकुलः ।
नवयौवन सम्पन्नो मिताहारी जितेन्द्रियः ।। ४१३ ।।

निर्भयाश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः
अविकारी स्थिरोधीमान् यथार्थेच्छा स्थितः क्षमी ।। ४१४ ।।

सुशीलो धर्मचारी च गुप्त चेष्टः प्रियंवदः ।
शास्त्र विश्वास सम्ल्पन्नों देवता गुरुपूजकः ।। ४१५ ।।

जनस्नां विरक्तश्च महाव्याधि विवर्जितः ।
अधिमात्रतरोज्ञश्च सर्वयोगस्य साधकः ।। ४१६ ।।

त्रिभिः संवत्सैरेः सिद्धिरेतस्य स्यान्नसंशंयः ।
सर्वयोगधिकारी च नात्र कार्या विचारणा ।। ४१७ ।।

गाढ़ातपेस्वप्रतिबिम्बमीश्वरम् निरीक्ष्य निष्फालित लोचनद्वयम् ।
यदा नभे पश्यति स्व प्रतीकां नभागसोतत् क्षणमेव तम्पतिम् ।। ४१८ ।।

प्रतीकोपासना कार्या दृष्टादृष्टं फलप्रदा ।
पुनाति दर्शनामात्रेण नात्र कार्य विचारणाः ।। ४१९ ।।

प्रत्यह प्रक्षेते यो वै स्वप्रतीक नर्भागसो ।
आयुर्वृद्धि भवेत्तस्य मृत्युस्यान कदाचन ।। ४२० ।।

यदा पश्यति सम्पूर्णं स्वप्रतीक नभांगणे ।
तदा जप समायायति वायुं निर्जित तं चरेत् ।। ४२१ ।।

यः करोति सदाभ्यासं चात्मानं विंदते परम् ।
पूर्णानिंदेक पुरुषं स्वप्रतीकं प्रसादतः ।। ४२२ ।।

यात्राकाले विवाहे च शुभं कर्मणिसंकटे ।
पापक्षये पुण्यवृद्धौ प्रतीकोपासनं चरेत् ।। ४२३ ।।

निरन्तर कृताभ्यासादंतरे पश्यति ध्रुवम् ।
तदा भुक्ति मवाप्नोति योगी नियतमानसः ।। ४२४ ।।

अंगुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्याम् विलोचने ।
नासा रंध्रे च मध्याभ्यांभ्यामन्याम् वदनम्दृढम् ।। ४२५ ।।

निरुध्य मारुतं योगी यदेवम् कुरुते भृशम् ।
तदालक्षणमात्मानम् ज्योतिरूपम् प्रपश्यसि ।। ४२६ ।।

तत्रोजौ दृश्यते येन क्षणमात्रम् विनाविलम् ।
सर्व पापविर्निमुक्तः रत न्याति परमां गतिम् ।। ४२७ ।।

निरन्तर कृताभ्यासात्योगी विगत कल्मषः ।
सर्वदेहादि विस्मृत्यतद्भिन्नस्तुस्वयं भवेत् ।। ४२८ ।।

यः करोति सदाभ्यासं गुप्ताचारेण मानवः ।
स वै ब्रह्मणिलिनः स्यात् पापकर्म रतोयदि ।। ४२९ ।।

गोपनीयः प्रयत्नेन सदाः प्रत्यय कारकः ।
निर्वाणदायको लोके योगोऽयम् ममबल्लभः ।। ४३० ।।

नादः संजापते तस्य क्रमेणाभ्यासतश्चवै ।
मंत्र भृंगावली वीणाः सदृशा प्रथमः ध्वनिः ।। ४३१ ।।

घंटारव सम पश्चात् ध्वनि मे घर्रवोपमः ।
एवमभ्यासनः पश्चात् संसारध्वान्तनाशनः ।। ४३२ ।।

ध्वनौतस्मिन् मनो दत्वायदा तिष्ठति निर्भरम् ।
तत्र नादे यदा चित्तं रमते योगिनो भ्रशम् ।। ४३३ ।।

तत्र नादे यदा चित्तं रमने योगिनो भ्रशम् ।
विस्मृतं सकलं वाह्यं नादेन सह शाम्यति ।। ४३४ ।।

एतदभ्यास योगेन जित्वा सम्यक् गुणान् बहून् ।
सर्वारम्भपरित्यागी चिदाकाशे विलीयते ।। ४३५ ।।

नासनं सिद्धसदृशम् न कुंभं सदृशम् बलम् ।
न खेचरी समा मुद्रा न नादसदृशयोऽलयः ।। ४३६ ।।

इदानीम् कथयिष्यामि मुक्तस्यानुभवं परम् ।
यज्ज्ञात्वा लभते मुक्तिं पापयुक्तोऽपि साधकः ।। ४३७ ।।

समभ्यचर्येश्वरम् सम्पक् तत्पार्श्वे योगमुत्तमम् ।
गृह्णीयात् सुस्थितो भूत्वा गुरुं संतोष्य बुद्धिमान् ।। ४३८ ।।

जीवादि सकलं वस्तुनि दत्वा योगविद गुरूम् ।
संतोष्याति प्रयत्नेन योगोऽयमृगृह्यते बुधैः ।। ४३९ ।।

विप्राज संतोष्य मेधावी नाना मंगल संयुतः।
ममालये शुचिर्भूत्वा प्रगृहीया इच्छुमात्मकम्।। ४४०।।

अन्यस्यानेन विधिना प्राक्तम् विग्रहादिकम्।
भूत्वा दिव्यवर्पुयोगी गृहीयाद्वक्ष्यमानकम्।। ४४१।।

पद्मासनस्थितो योगी जनसंगविवर्जितः।
विज्ञान नाड़ी द्वितीयमङ्गुलीभ्याम् निरोधयेत।। ४४२।।

सिद्धिस्तदार्विभवति सुखीरूपी निरंजनः।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यो येन सिद्धि भवेत् खलु।। ४४३।।

यः करोति घनाभ्यासान् तस्य सिद्धिः र्नदूरतः।
वायु सिद्धिभवेदेव क्रमात् पुंसो न संशयः।। ४४४।।

संकृत् यः कुरुते योगी पापौघं नाशयेत् ध्रुवम्।
तस्य स्यात् मध्यमे वायु प्रवेशो नानुसंशयः।। ४४५।।

एतदभ्यास शीलोऽयं स योगी देव पूजकः।
अणिमादि गुणान्लब्ध्वा विचरेत् भुवन त्रये।। ४४६।।

यो वै यस्यानिलाभ्यासात् तत् भवेत्तस्य विग्रहः।
तिष्ठदात्मनि मेधावी स पुनः क्रीड़ते भृशम्।। ४४७।।

एतद्योगम् परम् गोप्यन् न देयम्यअस्य कस्यचित्।
मस्व प्रणैनै समायुक्तम् तमेव कथ्यते ध्रुवम्।। ४४८।।

योगी पद्मासने तिष्ठे कंठे कूपम् यदास्मरन्।
जिंहु कृत्वातालु मूले क्षुत्पिपासा निवर्तते।। ४४६।।

कंठकूपादधः स्थाने कूर्मनाऽयस्ति शोभना।
तस्मिन् योगी मनोदत्वा चित्तस्थैर्यलभेद्भृशम्।। ४५०।।

शिरः कपाले रुद्राक्षं विवरं चिन्यतेत्यदा।
तदा ज्योतिः प्रकाशः स्यात् विद्युत्तेजसमं प्रभम्।। ४५१।

ऐतच्चिन्तन मात्रेण पापानाम् संक्षयो भवेत्।
दुराचारोऽपि पुरुषो लभते परमं पदम्।। ४५२।।

अहर्निशिम् यदा चिंताम् तत् करोति विचक्षणः।
सिद्धानाम् दर्शनम् तस्य भाषणं च भवेत् ध्रुवम्।। ४५३।।

तिष्ठन् भुंजन् स्वपन् गच्छन् ध्यायेच्छून्य महार्निशिम्।
तदाकाशमयो योगी चिदाकाशे विलीयते।। ४५४।।

एतज्ज्ञानम् सदा कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता।
निरन्तर कृताभ्यासात् मम तुल्यो भवेत् ध्रुवम्।। ४५५।।

एतद्धयानबलो योगी सर्वेषां बल्लभो भवेत्।
सर्वान् भूत जयान् कृत्वा निराशीरपपरिग्रहः।। ४५६।।

नासाग्रं येन दृश्येत् पद्मासन गतेन वै।
मनसो मरण तस्य खेचरत्वम् प्रसिध्यति।। ४५७।।

ज्योतिम् पश्यति योगीन्द्रः शुद्ध शुद्धावलोकनम्।
तत्राभ्यासबलेनैव स्वयंतद्रक्षको भवेत्।। ४५८।।

उत्तानं शयने भूमौ सुप्ताध्यायेदन्निरन्तरम्।
सद्यः श्रम विनाशाय श्वासं योगी विचक्षणः।। ४५६।।

शिरः पश्चात्तु भागस्य ध्याने मृत्युंजयो भवेत्।
भ्रूमध्या दृष्टि मात्रेणा हयपरः परिकीर्तितः।। ४६०।।

चर्तुविधस्यचान्नस्य रसस्त्रेधाविभज्यते।
तत्रसार तमो लिंगदेहस्य परिपोषकः।। ४६१।।

सप्तधातुमयं पिण्ड नेति पुष्णाति मध्यगः।
यातिविण्मूत्ररूपेण तृतीयांशः तनोवहिः।। ४६२।।

अथ भांगद्वयं नाडयः प्रोक्तास्ता सकला अपि।
पोषयंति वपुर्वायुं सर्वमापादमस्तकम्।। ४६३।।

नाडिमिरेभिः सर्वाभिः वायुसंचरते यदा।
तदैवान्नरसोदेहे साम्येवेह प्रवर्तते।। ४६४।।

चतुर्दशानाम् तत्रेह व्यापारे मुखमागतः।
ताः समग्रा न हीना स्वप्राण संचार नाड़िकाः।। ४६५।।

गुदात्द्वांगुलत्श्चोर्ध्वम् मेढ्रेकांगुलतस्त्वधः ।
एवम् स्वस्ति समकंदं समंन्ताच्चतुरंगुलम् ।। ४६६ ।।

पश्चिमाभिमुखं योनि गुदमेंढ्रान्तरालगा ।
तत्र कंदं समाख्यातम् तत्रास्तु कुंडली सदा ।। ४६७ ।।

संवेष्ट्य सकला नाड़ी रष्टधा कुटिलाकृति ।
मुखेनिवेश्य तत्पुच्छं सुषुम्ना विवरे स्थिताः ।। ४६८ ।।

सुप्तनागोपमाह्येषा स्फुरति प्रभया स्वया ।
अहिवत्संधि संस्थानां बाग्देवी बीजसंगिता ।। ४६९ ।।

ज्ञेयाशक्तिरियम् विष्णोः निर्भरस्वर्णाभास्वर ।
सत्वं रजस्तमश्चेति गुणात्रय विकस्वराः ।। ४७० ।।

तत्र बन्धूक पुष्पाभ कामबीजं प्रकीर्तितम् ।
कलहंस सम योगे प्रयुक्ताक्षररूपिणीम् ।। ४७१ ।।

सूर्यानाडीमसाश्वष्य बीजं तत्र वरम् स्थितम् ।
शरच्चन्द्रनिभं तेजस्त्रयमेतत् पुरस्थितम् ।। ४७२ ।।

सूर्य कोटि प्रतीकाशं चन्द्र कोटि सुशीतलम् ।
एतत्भयम् मिलित्वैव देवी त्रिपुरभैरवी ।। ४७३ ।।

बीजसंज्ञ परम् तेजस्तदेव परिकीर्तितम् ।
क्रिया विज्ञान शक्तिभ्याम् युतम् तत्परितो भ्रमात् ।। ४७४ ।।

उत्तिष्ठद्विषतं त्वाभं सूक्ष्मं शोणाशिखान्युत्तम् ।
योनिस्थम् तत्परं तेज स्वयंभूलिंग संस्थितम् ।। ४७५ ।।

आधार पद्ममेतद्धियोनिर्यस्यास्ति कंदतः ।
परिस्फुर द्वादिशांतं चर्तुवर्णां चतुर्दलम् ।। ४७६ ।।

कुलाभिधं सुवणभिं स्वयम्भू लिंग संगतम् ।
द्विरदो यत्र सिद्धोऽस्ति डाकिनी यत्र देवता ।। ४७७ ।।

तत्पद्म मध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता ।
तस्या ऊर्ध्वे स्फुरत्तेज कामबीजं भ्रमन् मतः ।। ४७८ ।।

यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः।
तस्य या दार्दुरी सिद्धिर्भमि त्यागः क्रमेणा वै।। ४७६।।

वपुष्कर्मन्तरात्कृष्टा जठराग्नि विवर्धनम्।
आरोग्यंश्च पटुत्वश्च करणानां च जायते।। ४८०।।

भूतार्थं च भविष्यम् च वेत्ति सर्वं विभूषणम्।
ज्यश्रुतान्यपि शास्त्राणि स रहस्यं बदेत् ध्रुवम्।। ४८१।।

वस्त्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरम्!
मंत्रसिद्धि मवेत्तस्य जपादेव न संशयः।। ४८२।।

जरामरण दुःखौधौ शंगं याति गुणैः सह।
इदम् ध्यानम् सदा कार्यम् पवनाभ्यासिना परम्।। ४८३।।

ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मुच्यते नात्र संशयः।
मूलपद्मं यदा ध्यायेत् स्वयभू लिंग संज्ञकम्।। ४८४।।

तदा तत्क्षणमात्रेण पापौधं नाशयेत् ध्रुवम्।
यं यं कामयते चित्ते तं तं फलमवाप्नुयात्।। ४८५।।

निरन्तर कृताभ्यासात् तं पश्यति विमुक्तिदम्।
वत्सराज्यंतरे श्रेष्ठं पूजनीयं प्रयत्नतः।। ४८६।।

तन्त्रे श्रेष्टतमं ह्येतत् नान्यरस्ति महत्तमम्।
आत्मसंस्थम् शिवम् त्यक्त्वा बहिस्थं यः समर्चयेत्।।४८७।।

हस्तस्य पिडमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया।
आत्मलिंगार्चनम् कुर्यादनालस्यो दिने दिने।। ४८८।।

तस्य स्यात् संकलासिद्धिः नात्रकार्याविचारणा।
निरन्तरकृताम्यासात् षण्मासे सिद्धिमाप्नुयात्।। ४८६।।

तस्य वायु प्रवेशोऽपि सुषुम्णायां भवेत् ध्रुवम्।
मनोजयं च लभते वायु विन्दु विधारणम्।। ४६०।।

एषा हि कामुष्मिकी सिद्धिर्भवन्नैवात्र संशयः।
द्वितीयं च सरोजं च लिंगमूले व्यवस्थितम्।। ४६१।।

तद्दलति षड्वर्णं परि भास्वर षट्दलम् ।
स्वाधिष्ठानाभिधं तत्र पंकजं शोणरूपकम् ।। ४६२ ।।

बालाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवी यत्रास्ति राकिनी ।
ये ध्यायन्तिं सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविंदकम् ।। ४६३ ।।

तस्याः कामांगनाः सर्वाः भजंते काममोहिताः ।
विविधं च अश्रुतं शास्त्रं निःशंको वै वदेत्ध्रुवम् ।। ४६४ ।।

सर्व रोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भ्रमः ।
मरणां बाधते तेन सकलेनापि न बाध्यते ।। ४६५ ।।

तस्य स्यात् परमा सिद्धिः अणिमादि् गुणाप्रदा ।
बापु सरचते देहे रसवृद्धि भर्वेद् ध्रुवम् ।। ४६६ ।।

आकाशपंकजं गलितं पीयूमार्य वर्धते ।
तृतीयं पंकजं नाभौ मणिपूरक संज्ञकम् ।। ४६७ ।।

डादिफावर्ण सयुक्तं दिग्दलम् विष्णुदैवतम् ।
तत्र मन्दाकिनी सिद्धिः किन्नरी तत्र देवता ।। ४६८ ।।

तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके ।
तस्य पाताल सिद्धिः स्यात् निरंतर सुखावहा ।। ४६६ ।।

ईप्सितंच भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम् ।
कालस्य वचनं चापि परदेहे प्रवेशनम् ।। ५०० ।।

जांबुनदादिकरणं सिद्धानां दर्शनं भवेत् ।
औषधी दर्शनं चापि निधीनां दर्शनं तथा ।। ५०१ ।।

हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत् ।
कादिण वर्ण संस्थानं द्वादशारसमन्वितम् ।। ५०२ ।।

अतिशोणम् कामराजं प्रसाद स्थान मीरितम् ।
पद्मस्थं तत्परम तेजो वाण लिंगं प्रकीर्तितम् ।। ५०३ ।।

तस्य स्मरण मात्रेण दृष्टादृष्टं फलं भवेत् ।
सिद्धः पिनाकी यत्र काकिनी यत्र देवता ।। ५०४ ।।

एतस्मिन् सततं ध्यानं ह्यपाथोजे करोति यः।
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्त्यावै कामार्त दिव्ययोषिता।। ५०५।।

ज्ञानं चाप्रतिमं तस्य त्रिकाल विषयं भवेत्।
दूरश्रुति दूरदृष्टिः स्वेच्छया स्वगता व्रजेत्।। ५०६।।

सिद्धानां दर्शनं चापि योगिनां दर्शनं तथा।
भवत्खेचरसिद्धिश्च खेचराणाम् जयम् तथा।। ५०७।।

ये धायन्ति परम् नित्यं वाणलिंगं द्वितीयकम्।
खेचरी भूचरी सिद्धिः भवेत्तस्य न संशयः।। ५०८।।

एतत् ध्यानस्य महात्म्यं कथितुं नैव शक्यते।
ब्रह्माधाः सकलाः देवाः गोपयन्ति परंत्विदम्।। ५०९।।

कंठस्थान स्थितम् पद्मम् विशुद्धं नाम पंचमम्।
सुहेमानं भास्वरमिदम् षोडशस्वर शोभितम्।। ५१०।।

छगलं अस्ति सिद्धोऽत्र शकिनी चाधिदेवता।
ध्यानं करोति यो नित्यं सः योगीश्वर पंडितः।। ५११।।

किं तस्य योगिनोऽन्यत्र निशुद्धारको सरोरूहे।
चर्तुवेदान्घिमासन्ति रहस्यानि विधेरिव।। ५१२।।

इहस्थाने मनोयस्य दैवाद्याति लयं यदा।
तदा बाह्य परित्यज्य स्वांन्तरे रमते चिरम्।। ५१३।।

तस्य न क्षतिमायाति स्वशरीरं स्वशक्तिः।
संवत्सरे सहस्त्रेऽपि बज्राति कठिनस्यवै।। ५१४।।

यदा जयति तद्ध्यचान योगीन्द्रो ऽवनिमंडले।
तदा वर्ष सहस्त्राणि तत्क्षणाम् मन्यतेकृती।। ५१५।।

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हंसोपेतम् द्विपत्रकम्।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्याम हाकिनी।। ५१६।।

शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृम्भितम्।
पुमान् परमहंसोऽयम् यत ज्ञात्वा नावसीदति।। ५१७।।

एतदेव परम तेजः सर्वतन्त्रेषु मंत्रिगाः।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभन्ते नात्रसशंयः।। ५१८।।

तृतीयं तदिदम् लिंगम् तदाहुः भुक्तिदायकम्।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मत्समो भवति ध्रुवम्।। ५१६।।

इडा हि वरूणा ख्याता पिंगलासीति मुच्यते।
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्र भाति सः।। ५२०।।

एतत् क्षेत्रस्य महात्म्यं ऋषिभिः तत्वदर्शिभिः।
शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परमतत्वं सुभाषितम्।। ५२१।।

सुषुम्ना मेरूणा ख्याता ब्रह्मरंध्रं यतोऽस्ति वै।
ततश्चेषा परावृत्या तदाज्ञा पद्मदक्षिणे।। ५२२।।

वामानासापुटात् यानि गंगेति परिगीयते।
ब्रह्म रंध्रे हि यत्पद्मं सहस्त्राख्यं व्यवस्थितम्।। ५२३।।

तत्र कंदे हि या योनिः तस्यां चन्दो व्यवस्थितः।
त्रिकोणकारतुः तस्याः सुधाक्षरति संततम्।। ५२४।।

इडायाम् अमृतम् तत्र समश्रवति चन्द्रमा।
अमृतं बहती धाराद्रूपं निरंतरम्।। ५२५।।

वाम नासपुटे याति गंगेतेत्युक्ताहि योगिभिः।
आज्ञा पंकजं दक्षांशा वामनासापुटं गता।। ५२६।।

उदेन्यत्रेहैव, तत्रेड़ा वरूणा समुदाहृता।
ततो द्वय मिहस्थाने वाराणास्यां तु चिन्तयेत्।। ५२७।।

तदाकारा पिंगलापि तदाज्ञाकमलोत्तरे।
दक्षनासापुटं याति प्रोक्तास्माभिः असीतिवै।। ५२८।।

मूलाधारे हि यत्पद्मचतुः पत्रं व्यवस्थितम्।
तत्र कंदेऽस्ति या योनिः तस्या सूर्यो व्यवस्थिता।। ५२६।।

ततः सूर्य मंडलद्वारं विषं क्षरति दुस्तरम्।
पिंगलायां विषं तत्र सन्त्मायातनुतापनम्।। ५३०।।

विषंतत्र वहति या धारारूपम् निरंतरम् ।
दक्षनासापुटं याति कल्पितामपि पूर्ववत् ।। ५३१ ।।

आज्ञापंकजं वामांशा दक्षनासापुटं गता ।
उदग्वहापिंगलापि पुरासीति प्रवर्तिता ।। ५३२ ।।

आज्ञापद्ममिदं प्रोक्तं यत्रदेवो महेश्वरः ।
पीठत्रयं ततश्चोर्ध्वं निरुक्तं योगचिंतकैः ।। ५३३ ।।

तद्विन्दुनादशक्त्याख्यं भालपट्टे व्यवस्थितम् ।
यः करोतिसदाध्यानम् आज्ञापद्मेतु गोपिता ।। ५३४ ।।

पूर्वजन्मकृतंकर्मम् स्मृतं स्यादविरोधतः ।
इहस्थिरो यदा योगी ध्यानं कुर्यान्निरन्तरम् ।। ५३५ ।।

तदा करोति प्रतिमा प्रति तल्पन् महार्थवत् ।
यक्ष राक्षस गन्धर्वा अप्सरो गण किन्नराः ।। ५३६ ।।

सेवते चरणौ तस्य सर्वे तस्य वशानुणाः ।
करोति रसनां योगी प्रविष्टा विपरीतगा ।। ५३७ ।।

लम्बिका ध्वेंषु गर्तेषु घृत्वा ध्यानम् भयापहम् ।
यस्मिन् स्थाने मन्नोयस्य क्षणार्धे वर्त्ततेवलम् ।। ५३८ ।।

तस्य सर्वाणि पापनि संक्षयं यांति तत्क्षणाात् ।
यानि यानीहि प्रोक्तानि पंचपद्मे फलानि वै ।। ५३९ ।।

तानिसर्वाणि सुतरां एतत् ज्ञानादभृवन्ति हि ।
यः करोति सदाभ्यासम् आज्ञापद्मे विचक्षणाः ।। ५४० ।।

वासनायां वंधं तिरस्कृत्य प्रमोदते
प्राण प्रयाण समये य स्मरेन्सुधी
त्यजेत्प्राणंस धर्मात्मा परमात्मनि लीयते ।। ५४१ ।।

तिष्ठन् गच्छन् श्वसन् भुंजन् योध्यानंकुरुतेनरः ।। ५४२ ।।

पापकर्म विकुर्वाणो नहि सज्जति किल्विषे ।
योगी द्वन्दविर्निमुक्तो स्वयया प्रभयास्वयम् ।। ५४३ ।।

द्विदले ध्यान महात्म्यंकथितुम् नैवशक्यते।
ब्रह्मादि देवता श्चैव किचिंन्मात्र वदन्ति ते।। ५४४।।

अत ऊर्ध्वं तालु मूले सहस्त्रारं सरोरूहम्।
अस्ति यत्र सुषुम्नायां मूलं सविवररूप स्थितम्।। ५४५।।

तालुमूला सुषम्ना या अधावेक्त्रा प्रवर्तते।
मूलाधारण पोन्यन्ता सर्वनाड़ी समाश्रिचता।। ५४६।।

वीज भूतानि वर्तते ब्रह्म मार्ग प्रदायिका।
तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्त्रारं पुरोहितम्।। ५४७।।

तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभि मुखीमता।
तस्याः मध्ये सुषुम्नायां मूलं सविवरं स्थितम्।। ५४८।।

ब्रह्मरंध्रादिवोक्तां सा मूलाधारपंकजे।
तत्तंतु रन्ध्रे तन्छक्ति सुषुम्ना कुंडली सदा।। ५४९।।

सुषुम्नायांस्थिता नाड़ी चित्रास्यान्मम बल्लभ।
तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादि कल्पना।। ५५०।।

यस्य स्मरणमात्रेण सर्वज्ञ त्वं प्रजायते।
पापक्षय श्च भवति न भूयः पुरुषो भवेत्।। ५५१।।

प्रवेशितं च लागुल्यं मुखे स्वस्थ निवेशयत्।

तेनात्र न वहत्यैन देहचार समीरण।। ५५२।।

तेन संसारचक्रेऽस्मिन् विभ्रमत्येव सर्वदा।
तदर्थ वै प्रवर्तन्ते योगिनः प्राणाधारणे।। ५५३।।

तत एवाखिला नाडीः रुध्वा चेष्टि विचेष्टिनाम्।
विद्युंदगा कुण्डलिन्याः मुखरन्ध्रा द्वर्हि भवेत्।। ५५४।।

सुषुम्नायां रादैवायं वहेत्प्राण समीरणः।
मूलपद्म स्थिता योनिः वामदक्षिणकोणतः।। ५५५।।

इडापिगंलयोर्मध्ये सुषुम्ना योनि मध्यगा।
ब्रह्मरन्ध्रं तु तत्रैव सुषुम्ना धारमंडले।। ५५६।।

यो जानाति स मुक्तः स्यात् कर्मबन्धाद्विचक्षणः।
ब्रह्मरन्ध्रं मुखे तासां संगमः स्यादसंशयः।। ५५७।।

यस्मिन्नन्ते स्नातकानां मुक्ति स्यादविरोधतः।
गंगायमुनयोर्मध्ये बहत्येषा सरस्वती।। ५५८।।

तासां तु संगम स्नात्वा धन्याः यान्ति परां गतिम्।
इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्क पुत्रिका।। ५५६।।

मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संङ्गोऽति दुर्लभाः।
सितासिते संगमे यो मनसा स्नानमाचरेत्।। ५६०।।

सर्व पाप 'वेर्निमुक्तो याति ब्रह्म सनातम्।
त्रिवेण्या स गमे यो वै पितृकर्मसमाचरेत्।। ५६१।।

पुरामयोक्ता या योनिः सहः सहस्त्रारे, सरोसहे।
तस्या अधो वर्तते चन्द्रः तध्यानं क्रयुते बुधैः।।' ५६२।।

यस्य सम्रणामात्रेण योगिन्द्रोऽवनि मंडले।
पूज्यो भवति देवानां सिद्धानां समंतोभवेत्।। ५६३।।

शिरः कपालविवरे ध्याये दुग्ध महोदधि।
तत्र स्थित्वा सहस्त्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत्।। ५६४।।

शिरः कपालः विवरे द्विरष्ट कलया युतः।
पीयूष भानुहंसाख्य स्तारयोन्निरञ्जनः।। ५६५।।

निरन्तरकृताभ्यासात् त्रिदिने पश्यति ध्रुवम्।
दृष्टि मात्रेणा पापौघं दहति एव सः साधकः।। ५६६।।

अनागतं च स्फुरति चित्तुशुद्धिः भवेत्खलु।
सद्यः कृत्वापि दहति महापातक पुंजकम्।। ५६७।।

अनुकूल्यं ग्रहाः यान्ति सर्वे नश्यन्ति उपद्रवाः।
उपसर्गाः समं यान्ति युद्धे जयमवाप्नुयात्।। ५६८।।

खेचरी भूचरी सिद्धिः भवेच्छीरेन्दु दर्शनात्।
ध्यानादेव भवेत्सर्वं मात्र कार्य विचारणा।। ५६६।।

सतताभ्यासयोगेन सिद्धोभवति नान्यथा ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं मम तुल्यो भवेदमृवम् ।। ५७० ।।

योगशास्त्रेऽपि अभिरते योगिनां योगदायकम् ।
अतः ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्त्रारं सरोसहम् ।। ५७१ ।।

तारयित्वा पितृन् सर्वान् स याति परमां गतिम् ।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रत्यह यः समाचरेत् ।। ५७२ ।।

मनसा चिन्तयित्वा तु सोऽक्षयं फलमाप्नुयात् ।
सकृद्यः कुरुते स्नानं स्वर्गेसौख्यं भुनंक्त सः ।। ५७३ ।।

दग्धपापान् सौख्यान् वै योगी शुद्धमति स्वयं ।
अपवित्राः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपिवा ।। ५७४ ।।

स्नानाचरणमात्रेण पूतोभवति नान्यथा ।
मृत्युकाले प्लुतं देहं त्रिवेण्यां सलिलं यदा ।। ५७५ ।।

विचिन्त्य यः त्यजते प्राणान् सः तदामोक्षमाप्नुयात् ।
नातः परतरं गुह्य त्रिषुलोकेषु विद्यते ।। ५७६ ।।

गोपत्वम् सुप्रयत्नेन न चाख्येयम् कदाचन ।
ब्रह्मरन्धे मनोदत्वा क्षणार्ध यदि तिष्ठति ।। ५७७ ।।

सर्व पाप विर्निमुक्तो सः याति परमांगतिम् ।
यस्मिन् लीन मनो यस्य सः योगी लीयतेमपि ।। ५७८ ।।

अणिमादि गुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ।। ५७९ ।।

एतद्रधं ज्ञानमात्रेण मर्त्यः,
संसारेऽस्मिन् बल्लभो मे भवेत्सः ।
पांपं जित्वा मुक्ति मार्गाधिकारी ।
ज्ञानं दत्वा तारयत्यद्भुतं वै । ।५८० ।।

चर्तुमुखादि त्रिदशैरगम्यं योगिबल्लभं ।
प्रयत्नेन सुगोप्यं तदब्र द्मररंन्ध्रं मयोदितं ।। ५८१ ।।

योगशास्त्रेप्यभिरतंयोगिनां योगदायकम् ।

अतऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्त्रारं सरोरूहम् ।। ५८२ ।।

ब्रह्माण्डाख्यस्यदेहस्य बाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम् ।
कैलाश नाम तस्यैव महेशो यत्र विद्यते ।। ५८३ ।।

आकुलाख्योऽविनाशी च क्षय वृद्धि विवर्जितः ।। ५८४ ।।

स्थान.ास्य ज्ञानमात्रेण नृणी, सरोऽस्मिन् संभवो नैवभूयः ।
भूतग्रामं संतताभ्यास योगात् वर्त्तुं हर्त्तुं स्याच्च शक्ति समग्रा ।। ५८५ ।।

स्थाने परेहंस निवासभूते, कैलाश नाम्नीहि निविष्ट चेष्टाः ।
योगी हतव्यधि रधकृताधिः वाधाश्चिरं जीवति मृत्युमुक्तः ।। ५८६ ।।

चित्तवृत्तिर्यदा लीनाऽ कुलाख्ये परमेश्वरे ।
तदा समाधि सम्पन्तो योगी निश्चलतां व्रजेत् ।। ५८७ ।।

निरन्तरं कृतात्ध्यानाज्जगद्विस्मरणं भवेत् ।
यदा विचित्र सामर्थ्यं योगिनो भवति ध्रुवम् ।। ५८८ ।।

अस्माद्गलित पीयूषं पिवेद्योगी निरन्तरम् ।
मृत्यु मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे ।। ५८६ ।।

अत्र कुंडलिनी शक्ति लयंयाति कुलाभिधा ।
तदा चतुर्विधासृष्टि लीयते परमात्मनि ।। ५६० ।।

यद्गात्वा प्राण विषयं चित्तवृत्तिर्विलीयते ।
तस्मिन् परिश्रमो योगी करोति निरपेक्षकः ।। ५६१ ।।

चित्तवृत्तिर्यदालीना तस्मिन् योगी भवेध्रुवम् ।
तदा विजयतेऽखण्ड ज्ञान रूपी निरञ्जनः ।। ५६२ ।।

व्रह्माण्डे वाह्ये संचित्य स्व प्रतीकं पथोदितम् ।
तयावेश्य महत्शून्यं चिन्तयेद विरोधतः ।। ५६३ ।।

आद्यान्तमध्यशून्यं तत् कोटि सूर्य समप्रभम् ।
चन्द्र कोटि प्रतीकाशंमभ्यस्य सिद्धिमाप्नुयात् ।। ५६४ ।।

एतद्ध्यानं सदा कुर्यादनालस्यो दिने दिने ।
तस्य सकालासिद्धिर्वत्सरा नात्र संशयः ।। ५६५ ।।

क्षणार्द्धं निश्चलेत्तम मनोवस्य भवेध्रुवम् ।
तस्यं कल्मष संघास्तत्क्षणादेव नश्यति ।। ५९६ ।।

यं दृष्ट्वा न निवर्त्तते मृत्यु संसारवर्त्मनि ।
अभ्यस्यैतं प्रयत्नेन स्वाधिष्ठानेन वर्त्मना ।। ५९७ ।।

एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते ।
यः साध्यति जानाति सोऽन्यो नास्मादिमं मतम् ।। ५९८ ।।

ध्यानादेव..विचित्रे क्षण सम्भवम् ।
अणिमादि गुणोपेतां भवत्येव व न संशयः ।। ५९९ ।।

राजयोग मयाऽख्यातः सर्वतंत्रेषु गोपितः ।
राजधिराज योगंहि कथयामि समासतः ।। ६०० ।।

स्वस्तिकं चासनं कृत्वा गुमूटेजन्तुवर्जिते ।
गुरुं संपूज्य यत्नेन ध्यानमेतत् समाचरेत् ।। ६०१ ।।

निरालाम्बो भवेज्जीवो ज्ञात्वा वेदान्त युक्तिः ।
निरालम्बं मनः कृत्वा नं किञ्चित् साधनयेत्सुधी ।। ६०२ ।।

एतत् ध्यानान्महासिद्धि र्भवत्येव न संशयः ।
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् ।। ६०३ ।।

साधयेत् सततं यो वै स योगिविगतस्पृहः ।
अर्हन्मामन कोप्यास्मिन् सर्वदात्मैव विद्यते ।। ६०४ ।।

को बन्ध कस्य वा मोक्षः एकं पश्येत् सदाहि सः ।
एतत् करोति यो नित्यं स मुक्तो नात्र संशयः ।। ६०५ ।।

स एव योगी मद्भक्तः सर्व लोकेषु पूजितः ।
अहमस्मीति च तज्जीवात्म परमात्मनोः ।। ६०६ ।।

अहं तदेतदुभयं त्यक्त्वाऽखण्ड विचिन्तयेत् ।
अध्यारोपादिवादाभ्यां यत्र सर्वं विलीयते ।। ६०७ ।।

तदीजः आश्रयेद्योगी सर्वसंगविवर्जितः ।
अपरोक्ष चिदानन्दं पूर्ण त्यक्त्वां भ्रमाकुलम् ।। ६०८ ।।

परोक्षमपरोक्ष च कृत्वा मूढ़ाः भ्रमन्ति वै।
चराचरमिदं विश्वं परोक्ष यः करोति च।। ६०६।।

अपरोक्षं परम् ब्रह्म त्यक्त्वा तस्मिन् प्रलीयते।
ज्ञानकारणाजं ज्ञाय यया नित्यं यथा भृशम्।। ६१०।।

अभ्यासं कुरुते योगी तदा संगविर्जितः।
सैवमभ्यसतो नित्यं स्वप्रकाशं प्रकाशते।। ६११।।

श्रोतुर्बुद्धेः समाप्यर्थं निवर्तन्ते गुरोर्गिरः।
तदाभ्यासवाशादेकं स्वतो ज्ञानं प्रवर्तते।। ६१२।।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यामनसा सह।
साधनादलभेदज्ञानं स्वयं स्फुरति तत्वतः।। ६१३।।

हठं बिना राजयोगो राजयोगो बिना हठम्।
तस्मात् प्रवर्त्तते योगी हठे सदगुरु मार्गतः।। ६१४।।

स्थिते देहे जीवतियोऽधुना न म्रियते भृशम्।
इन्द्रियार्थायभोगेषु स जीवति न संशयः।। ६१५।।

अभ्यास पाकपर्यन्तं मित्तान्नशरणो भवेत्।
अन्यथा साधनंधीमान् कर्त्तुं पारयुतीह न।। ६१६।।

अतीव साधुसल्लापं वदेत् संसदि बुद्धिमान्।
करोति पिण्ड रक्षार्थं वहालाप विवर्जितः।। ६१७।।

त्यजते ज्यजते संग सर्वथा त्यजते भृशम्।
अन्यथा न लभेन्मुक्तिं सत्यं सत्यं मयोदितम्।। ६१८।।

गृहे वै क्रियतेऽभ्यासः संगं त्यक्त्वा तदन्तरे।
व्यवहाराय कर्त्तव्यो वाह्यो संगो न रागतः।। ६१६।।

स्वे स्वे कर्माणि वाह्यो वर्त्तन्ते सर्वे ते कर्मसम्भवाः।
निमित्तमात्र करणो न दोषोऽस्ति कदाचन।। ६२०।।

एवंनिश्चित्य सुधिया गृहस्थोऽपि यदाचरेत्।
सदा सिद्धिमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा।। ६२१।।

पापपुण्य विर्निमुक्तः परित्यक्तांग सङ्गकः ।
यो भवेत् स विमुक्तः स्यात् गृहे तिष्ठन् सदागृही ।। ६२२ ।।

पापपुण्ये न लिप्येत् योगयुक्तो सदा गृही ।
कुर्वन्नपि तदोपायान् स्वकार्ये लोकसंग्रहे ।। ६२३ ।।

अधुना संप्रवक्ष्यामि मंत्रसाधनमुत्तमम् ।
ऐहिकामुष्मिक सुखं येन स्यादविरोधतः ।। ६२४ ।।

यस्मिन् मंत्रवरे ज्ञाते योगसिद्धिर्भवेत् खलु ।
योगिनः साधकेन्द्रस्य सर्वैश्वर्या सुखप्रदा ।। ६२५ ।।

मूलाधारेऽस्ति पत्पद्मं चर्तुदल समन्वितम् ।
तन्मध्ये वाग्भवं बीजं विस्फुरन्तं तडित्प्रभम् ।। ६२६ ।।

हृदये कामराजं तु वन्धूक कुसुमप्रभम् ।
आज्ञारविन्दे शक्त्याख्ये चन्द्रकोटिसमप्रभम् ।। ६२७ ।।

बीजत्रयमिदंगोयं भुक्तिं मुक्ति फलप्रदम् ।
एतन्मत्रं त्रयं योगी साधयेत् सिद्धिदायकः ।। ६२८ ।।

एतन्मंत्रं गुरोर्लब्ध्वा न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अक्षराक्षरसन्धानं निःसंदिग्ध मनो जपेत् ।। ६२९ ।।

सद्गतश्चैक चित्तश्च शास्त्रोक्त विधिना सुधी ।
देव्यस्तु परतोलक्ष्यं हुत्वा लक्षत्रयं जपेत् ।। ६३० ।।

करवीर प्रसूनं तु गुडक्षीराज्य संयुत्तम ।
कुष्ठे योव्याकृतै धीमान् अपान्ते जुहुयात् सुधी ।। ६३१ ।।

ततो ददाति कामान् वै देवी त्रिपुर भैरवी ।
गुरुं सतोष्य विधिवत् लब्ध्वां मंत्र वरोतमम् ।। ६३२ ।।

अनेनविधिनायुक्तो मन्दाभग्योऽपि सिध्यति ।
लक्षमेकं जपेद्यस्तु साधको विजितेन्द्रियः ।। ६३३ ।।

दर्शनातस्य क्षुभ्यन्ते योषितो मदनातुराः ।
पतन्ति साधकस्याग्रे निर्लज्जाः भयवर्जितः ।। ६३४ ।।

जपेन च द्विलक्षेन याप्यस्मिन् विषयोस्थिता ।
आगच्छति यथापंथं उक्ते चाकुलविग्रहाः ।। ६३५ ।।

ददते तस्मै सर्वस्वं तस्यैव वशेस्थिता ।
त्रिभिलक्षैस्तथा जप्यै मण्डलीकाः समण्डलाः ।। ६३६ ।।

वशमायन्ति ते सर्वे नात्रकार्या विचारणा ।
षड्भिर्लक्षैर्महीपालाः सभृत्य बलवाहनाः ।। ६३७ ।।

लक्षैर्द्वादशकैर्जप्यै यक्षोरक्षोरगेश्वराः ।
वशमायान्ति ते सर्वे आज्ञां कुर्वन्ति नित्यशः ।। ६३८ ।।

त्रिपंचलक्षजपैस्तु साधकेन्द्रस्य धीमतः ।
सिद्धविद्याधराश्चैव सगन्धर्वाप्सरो गणाः ।। ६३९ ।।

वशमायान्ति ने सर्वे नात्रकार्या विचारणा ।
हठात् श्रवण विज्ञानं सर्वज्ञत्वं प्रजायते ।। ६४० ।।

तथाष्टद शाभिर्लक्षै र्देहेनानेन साधकः ।
अतिष्ठेन्मेदिनी त्यक्त्वा दिव्यदेहस्तु जायते ।। ६४१ ।।

भ्रमते स्वेच्छया लोके छिद्रा पश्यति मेदिनीम् ।
अष्टाविंशतिभिर्लक्षे र्विद्याधरपति भवेत् ।। ६४२ ।।

साधकस्तु भवेद् धीमान्कामरूपो महाबलः ।
त्रिशं लक्षे सर्वथा जपै ब्रह्मा विष्णु समो भवेत् ।। ६४३ ।।

रुद्रत्वं षष्टिाभिर्लक्षैः शक्तितत्वमशीतिभिः ।
कोट्येकया महायोगी लीयते परमे पदे ।। ६४४ ।।

साधकस्तु भवेद् योगी भैलोक्यो सोऽस्ति दुर्लभः ।
त्रिपुरोत्रिपुरन्त्वेकं शिवं कल्याण कारणम् ।। ६४५ ।।

अक्षयं तत्पदं शान्तंमप्रमेयमनामपम् ।
लभतेऽसौ न सन्देहो धीमान् सर्वमीप्सितम् ।। ६४६ ।।

शिव विद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महेश्वरी ।
मद् भाषितमिदं प्रोक्तं गोपनीय मतो बुधैः ।। ६४७ ।।

भवेद् वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशिता ।
य इदं पठेन्नित्यं माद्यौपान्तं विचक्षणाः ।। ६४८ ।।

योगसिद्धिर्भवेत् तस्य क्रमेणैव न संशयः ।
स मोक्षं लभते धीमान् य इदं नित्यमर्चयेत् ।। ६४६ ।।

मोक्षर्थीभ्य स सर्वेभ्यः साधुभ्यः श्रावयेद्यतिः ।
क्रिया युक्तस्य सिद्धि स्यादक्रियस्य कथं भवेद् ।। ६५० ।।

तस्मात् क्रिया विधानेन कर्त्तव्यो योगिपुङग्वैः ।
यदृच्छालाभ संतुष्टः संत्यक्तान्तरसंगकम् ।। ६५१ ।।

गृहस्थः स लोकेशो मुक्तः स्याद्योगसाधनैः ।
गृहस्थानां भवेत् सिद्धिरीश्वराणां जनेनवै ।। ६५२ ।।

साधनेन विना देवि कथं सिद्धिः वारनने ।
तत्मात्सासाधनमुत्पाद्यासाधयेत् सिद्धिमुत्तमाम् ।। ६५३ ।।

## ।। इति ।।

# शाम्भवीतन्त्रम्

यह ग्रंथ शंकर पार्वती संवादरूप है। ग्रंथ के प्रारंभ में भगवान शंकर पार्वती जी से कहते हैं ज्ञान एक है, नित्य है, आदि अन्त से रहित है। अन्य कोई तत्व सृष्टि में सत्य नहीं है। इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान में, द्वैत और भेद, भासित होते हैं। ज्ञान ब्रह्म है, कालगति से बाधित नहीं है। इन्द्रिय-ज्ञान सीमित है। इन्द्रियों की स्थिति, अंधकार में है। द्वैत-भाव या भेद-बुद्धि में, सत्य नहीं है। मानव-ज्ञान की चरम सीमा ब्रह्म-ज्ञान है, जिसे प्राप्त करने के लिये, इन्द्रियों के परे जाना आवश्यक है। सब कुछ ब्रह्म में स्थित और ब्रह्म से व्याप्त है। एकरस, अपरिवर्तनीय ज्ञान, सत्य, अथवा बल का अनुभव चित्त की वृत्तियों के परे है। चित्त शांति के पश्चात ही एकरस का अनुभव होता है।

आत्मा, सब प्राणियों में, समान रूप से विद्यमान है। आत्मज्ञान ही मुक्ति है। अपने भक्तो के लाभ के लिये, भगवान शंकर ने, इस महान योगोपदेश का वर्णन माता पार्वती के प्रश्नों के उत्तर रूप में किया है। सृष्टि-लीला ब्रह्म में स्थित है। महान सत्ता के विलास से लीला का विकास, विनाश एवं रक्षण होता है। हम मनुष्यों की इस रजोगुणी सृष्टि में, परमसत्ता जो कुछ करना चाहती है, मानव के माध्यम से ही करती है क्योंकि सृष्टि, नियमों पर आधारित है। नियमों का आदर ईश्वर भी करते हैं। साधना द्वारा शनैः शनैः अपने द्वैत-आवरण को दूर करता हुआ अपनी व्यक्तिगत चेतनास्तर को प्रत्येक साधक, पूर्ण बना सकता है। भगवत् कृपा सबमें समान रूप से प्रवाहित होती है। व्यक्ति अपनी पात्रतानुसार कृपा प्राप्त करता है। व्यक्ति की पात्रता बढ़ाने के लिये ही समस्त साधनायें बनीं।

अनेक मतमनान्तर और सम्प्रदाय, आंशिक सत्यों पर आधारित हैं, इसीलिये भेद उत्पन्न होते हैं। मानव समाज, एक होने पर भी भ्रम-वश बट जाता है और दुःखी होता है। व्यक्ति का धर्म, सृष्टि धर्म से, अलग

नहीं हो सकता। मुक्ति, पूर्णत्व अथवा पूर्ण विकास ही, निश्चित कालबाधित सृष्टि-धर्म है।

आत्मदर्शन चाहने वाले साधक मतमतान्तरों से भ्रमित होकर अज्ञान बढ़ा लेते हैं, व्यर्थ चिन्तन में फंस जाते है। सभी प्राणियों की अनन्य गति, आत्मदर्शन अथवा सत्यदर्शन में है। ज्ञान, तर्क के परे है। तर्क बुद्धि पर आश्रित है। बुद्धि सीमित है।, असीम का भान नहीं करा सकती, सांसारिक लाभ दे सकती है। जब तक असीम में गति न हो जाय तब तक बुद्धि और तर्क का सम्बल भी नहीं छोड़ना चाहिये, लेकिन यह भी नहीं भूलना चाहिये कि जब चेतनस्तर उठ जाता है तभी सत्य का अनुभव होता है। जब असीम से सम्बन्ध हो जायेगा, असीम संसार भी ठीक हो जायेगा, क्योंकि इन्द्रियानूभूत संसार सृष्टि-नियमों पर आधारित है। असीम की तरफ कदम उठाने पर सीमित संसार अवश्य शुद्ध और सुलभ होगा। सूक्ष्म और स्थूल दोनो ही ब्रह्ममय है। हमारे लिये दोनो का निरूपण लाभदाई है।

कोई दर्शन सत्य की प्रशंसा करता है तो कोई तपस्या की, कोई शुद्धता की, पवित्रता की अथवा आचार व्यवहार की तो अन्य क्षमाभाव की प्रशंसा करते हैं। कोई-कोई वैराग्य-साधना को ही श्रेष्ठ बताते है। ब्रह्ममय, पूर्ण विकसित जीवन एकांगी नहीं हो सकता। कुछ विद्वान कहते हैं कि सांसारिक ज्ञान ही सर्वोपरि है। कुछ आचार्य ज्ञान-मार्ग को सर्व श्रेष्ठ मार्ग बताते हैं, तो अन्य शम दम तितिक्षा-उपरति एवं सरल व्यवहार और को कुछ विचारक गृहस्थ जीवन के कर्मो की ही प्रशंसा करते हैं। कहते हैं कि परमसत्ता को किसने देखा है। जो इन्द्रिय ज्ञान-अनुभूत है, वही सत्य है,. मृत्यु के बाद क्या होता है, किसने देखा है? कुछ बुद्धिमान, अग्नि-होत्र, होमादि (मनुष्य आदि) कर्मो को सर्वश्रेष्ठ मान बैठे, तो अन्य मंत्र-योग मंत्रसिद्धि को। कुछ ने निर्णय दे दिया कि तीर्थ, तीर्थदर्शन ही सर्वोपरि साधना है।

हम लोग अपनी जीवन-यात्रा में अनुभव करते हैं कि विभिन्न मत मुक्ति की राह तो बताते हैं, परन्तु समाज तथा व्यक्ति दु:खी रहता है। कर्म, अकर्म, विधि-निषेध, आदि की गति और क्षेत्र उलझन से भरे हैं। विविध व्याख्याओं और मतमनातरों का प्रतिपादन विद्वानों ने अपने

चिंतन के आधार पर किया। तत्वों के अनुपात-भेद के कारण प्राणियों में भिन्नता मिलती है, किन्तु ब्रह्म में तो सभी तत्व संतुलित है। रूचि और तत्व भेद का अन्य कोई आधार नहीं है।

एक शरीर में अनेक अंग होते है।, कुछ प्रत्यक्ष है और कुछ परोक्ष हैं। बुद्धि, मन, अंहकार और आत्मा आदि निराकार अप्रत्यक्ष तंत्व हैं इनका केवल अनुभव होता है। हम केवल स्थूल हाथ या पैर अथवा शिर या पेट भी नहीं हैं। स्थूल शरीर, और उसमें स्थित निराकार तत्व, सब मिलकर एक व्यक्ति का रूप धारण करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में कर्म हैं, विचार है, भावनायें हैं, प्रकाशिका शक्ति है। जिस व्यक्ति में साकार और निराकार का समन्वय है, वही विकसित व्यक्तित्व वाला है। विभिन्न मतमतान्तरों में भेद स्वाभाविक है। उचित-अनुचित की व्याख्या में बहुधा द्वन्द्व-भेद भी उत्पन्न हो जाता है, इसलिये हम पाते हैं कि अनुचित कर्म अनचाहे भी हो जाते हैं। भ्रम, मोह और अज्ञान से पाप उत्पन्न होता है। मुक्ति-पथ तो सरल, स्वाभाविक, सर्वांगीण विकास है।

नाना प्रकार की एकांगी साधनाओं से, व्यक्ति को, विशिष्ट परन्तु आंशिक शक्तियां प्राप्त होती हैं। परम लक्ष्य, परम पुण्य, परम पुरूषार्थ की सिद्धि तो, चेतना के सर्वांगीण विकास द्वारा हो सकती है। असह्य बने, जन्म मृत्यु, सुख-दुःख, लाभ हानि के चक्रों में घूमता हुआ जीव यात्रा करता रहता है। विकसित चेतना ही बन्धनों से परे का अनुभव देती है।

अनेक शास्त्र रचयिताओं ने व्यक्तिगत चिन्तन के आधार पर अपने अपने मार्ग को सर्वश्रेष्ठ बताया है। जो जिस साधनामार्ग से गया वह उसी को उत्तम मानेगा। सब मार्ग सब व्यक्तियों के लिये उपयुक्त नहीं होते। तत्व भेद को जानना, मानना और समझना होगा। व्यक्तित्व का विकास पूर्णत्व की ओर है, परन्तु एक साधना पद्धति सब के लिये उपयोगी नहीं हो सकती।

विचारकों, आचार्यों ने आत्मा के विषय में , अपने विचार एवं अनुभव प्रस्तुत किये हैं। आत्म-ज्ञान की राह भी, रूचि अनुसार बताई, लेकिन अधिकारी-भेद, देश-काल और परिस्थितियों की भिन्नता को कुछ विद्वान नज़र-अंदाज कर बैठे। कुछ विद्वानों ने तो यहां तक कह डाला

कि-जो कुछ उन्होंने कहा, उससे भिन्न कुछ भी सत्य नहीं है। मानव का ज्ञान-मात्र ऐसी सीमाओं में नहीं बंध सकता।

जिसने जो कुछ कहा, अपने मत के समर्थन के लिये कहा। इन्द्रियानुभूत-जगत को ही सब कुछ मानने वाले विद्धान भूल गये कि इन्द्रियानुभव में आने वाली लीला के आगे भी, लीला सृष्टि है। क्या आज का कोई योग्य व्यक्ति या वैज्ञानिक मान सकता है, कि जो कुछ हम देखते हैं, अथवा सुनते हैं उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है? हम अच्छी तरह जानते हैं कि हमारी आंखे, कान, आदि इन्द्रियों की ताकत, सीमित क्षेत्र Limited frequencies तक ही काम करती है।

मानव की ज्ञान यात्रा में, जब विद्वान ऐन्द्रिय जगत के आगे बढे तो कुछ शून्य की स्थिति तक पहुंच कर रुक गये। अन्य विचारक दो तत्वों की मान्यता ले बैठे कि प्रकृति और पुरुष के मिलन से सृष्टि-क्रम बना है।

ज्ञान मार्ग को सर्वश्रेष्ठ बताने वालों का मानव समाज पर बहुत समय तक एकछत्र शासन रहा। इनके विवेचन में, व्यक्ति का सांसारिक व्यवहार महत्वहीन हो गया, फलस्वरूप दैनिक जीवन में अनेक दुख बढ़ गये। जिस समाज में केवल आत्मा की बातें होती हैं, वहां राक्षस उत्पन्न होने लगते हैं। शरीर को अकर्मण्य बनाकर अथवा शरीर के द्वारा संभव असामाजिक कर्मों को नगण्य मानना हानिकारक है। आत्मदर्शन का संबंध दैनिक आचरण से भी है। जो ऊंची २ बातें करते हैं लेकिन कर्म को महत्व नहीं देते, वह मानव समाज के लिए घातक सिद्ध होते हैं। आज के योगी अपने को सिद्ध और महान मानते हैं लेकिन दैनिक आचरण के प्रति उदासीन और असंतुलित हो जाते हैं। जब सभी कुछ प्रभुमय है और परम सत्ता सबमें विद्यमान है तो संसार को व्यर्थ मानना परम अवहेलना है।

विरोधी मतों के कारण समाज और व्यक्ति परमध्येय से च्युत हो गये। कुछ बहककर श्रेष्ठ मार्ग से ही मुंह मोड़ बैठे, कहने लगे कि आत्मा आदि के व्यर्थ झगड़ों में पड़कर संसार बिगाड़ने से क्या लाभ हो सकता है? कुछ बिना समझे बूझे पुरानी मान्यताओं को अपनाकर संतुष्ट हो गये। कुछ लोग अकर्मण्य चिंतन प्रधान होकर व्यर्थ बन गये। कुछ लोगों

नें घबड़ाकर सभी सिद्धातों को तिलांजलि दी और उनके मन को जो अच्छा लगे वही करने लगे।

संसार लीला द्वैत भाव पर आधारित है। संसार में द्वन्द्व निश्चित है, परन्तु यह भी निश्चित है कि द्वन्द्वातीत अवस्था भी इसी जीवन में प्राप्त हो सकती है लेकिन सत्य की टोह में कुछ विद्वान नास्तिक निरीश्वरवादी हो गए और कुछ विद्वान कहने लगे कि परमसत्ता ईश्वर, परमेश्वर और ब्रह्म इस संसार के वाहर है। उसकी प्राप्ति इस जगत को त्यागने पर अथवा इससे बाहर जाने पर ही सम्भव है।

विभिन्न मतों का प्रतिपादन करने वाले विद्वान, विविध भेदों से, अपने विचार की पुष्टि करने के लिए, स्थिति-कातर होकर युक्तियां प्रमाण और तर्क प्रस्तुत करने लगे। फलतः व्यक्ति और समाज राह खो बैठा, पूर्वाग्रही हो गया और मानने लगा कि जो उनकी मान्यता है, वही सही है। दिमाग की सब खिड़कियां बन्द हो गई, किंकर्तव्य विमूढता आ गई। नऐ विचार और सिद्धान्त सुनने और मनन करने को लोग तैयार न रहे। जो वस्तु या तत्व बंध जाता है, वही गंदला एवं अधोगामी हो जाता है।

सभी मतों का विवरण देना असम्भव है, क्योंकि मत, भ्रम तथा किंकर्तव्य विमूढता उत्पन्न करते है। समाज के साधारण व्यक्ति न इतनी खोज कर सकते हैं और न उनके पास इतना समय, साधन और योग्यता ही है। मुक्ति और पूर्णत्व के मार्ग से लोग भटक गए। भ्रम, मोह और अज्ञान बढ़ा और आलस्य तथा शरीर-सुख की लालस ने मानव को दबा लिया। व्यक्ति समाज और देशों के पतन की कहानी अज्ञान की कहानी है। सिद्धान्तो के सागर में गोते लगाते रहना ही हमारा जीवन ध्येय कभी नहीं हो सकता।

परमज्ञानी भगवान शंकर कहते हैं कि सभी शास्त्रो को पुनःपुनः एकमत देखने और विचारने पर जो निश्चित मत बनता है वह बताता हूं। इसमें जातिगत, लैंगिक और देशगत भेद नहीं है। यह राह सभी प्राणियों के लिये उपयोगी है।

व्यक्ति के सर्वागींण विकास के लिये, निश्चयात्मिका बुद्धि आवश्यक है। योगशास्त्र सभी के लिये लाभदायी है। इसका साधन, केवल

मानवशरीर और मानव मन की अपेक्षा करता है। इसका सम्यक्ज्ञान प्राप्त करके मानव अपनी विकसित शक्तियों को, लीलाक्रम में पूर्ण उपयोगी कर सकता है। तब सांसारिक एवं परमार्थिक आदर्शो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जायेगा, भ्रम के लिये कहीं स्थान नहीं रहेगा।

योग साधना में, परिश्रम करना श्रेयस्कर है। मुक्ति, पूर्णविकास, पूर्णत्व प्राप्त करने के लिये, अपनी शक्ति को इस मार्ग पर केन्द्रित करना उचित है। शास्त्रों की भवाटवी में भ्रमित होने से, क्या लाभ है? सम्यक्-ज्ञान और आलस्य विहीन साधना, व्यक्तित्व को पूर्ण विकसित कर सकती है। अंतःकरण की सुषुप्त शक्तियों को जागृत कर सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। व्यक्ति जितना विकसित है उतना ही सुखी है।

योगशास्त्र रहस्यमय है। साधना करते करते इसके गोपनीय रहस्य और प्रभाव समझ में आते है। योगशास्त्र की व्याख्या साधको और योग्य अधिकारियों को पूर्ण लाभ प्राप्त कराने के लिये और चेतना के स्तर को अधिकाधिक विकसित करने के लिये की गई है। त्रैलोक्य में, संपूर्ण सृष्टि में, कहीं पर भी जन्मा हुआ व्यक्ति इससे लाभ उठा सकता है।

मनुष्य की दो शक्तियां ज्ञान और कर्म–ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्ति-फलदायी है। इच्छाशक्ति आधार है। इन्हीं शक्तियों पर सम्पूर्ण विकास और लीला आधारित है।

ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग में भी दो दो मार्ग हो गये। ज्ञान में एक तो भौतिक संसार के ज्ञान का मार्ग है और दूसरा इन्द्रियातीत का ज्ञान है। कर्ममार्ग में विधि और निषेध का भेद है। निषिद्ध कर्म करने से जीवन पापमय होता है। वैध कर्म से पुण्य प्राप्त होता है। प्रत्येक कर्म का फल होता है। फल पुण्यमय अथवा पापमय हो सकता है।

वैध कर्मों के भी, तीन भेद हैं; नित्य, नैमित्तिक और काम्य नित्य कर्मों के न करने से निश्चित हानि होती है। नैमित्तिक और काम्य कर्मों से फल प्राप्त होते हैं। कर्म सकाम और निष्काम भी होते हैं, नीचे गिराने वाले पतनकारी और उन्नति प्राप्त कराने वाले। यही पतन और उन्नति नरक और स्वर्ग कहा गया है। व्यक्तित्व का उत्थान, विस्तार एवं विकास स्वर्ग है।

स्वर्ग तथा नरक अथवा उत्थान एवं पतन भी अनेक स्तरों वाले हैं। सत्-कर्म से उन्नति और असत्-कर्म से पतन निश्चित है। मानव अपने चुनाव द्वारा उन्नतिशील बने अथवा पतन में चला जाये। इच्छा शक्ति ही प्रेरित करती है। क्रिया का चुनाव अपने हाथ में है।

सम्पूर्ण सृष्टि कर्म और उनके शुभाशुभ फलप्राप्ति के नियम से बंधी है, कर्ममयी है। मानव कर्मयोगी है। कर्म के शाश्वत नियम को कोई तोड़ नहीं सकता। कर्म से बंधा जीव, पशु के समान, कभी कभी तो नारकीय भोग प्राप्त करता रहता है। अनेक प्रकार के दुखों से भरे जीवन को नरक कहा गया है और अनेक प्रकार के सुखों से परिपूर्ण जीवन को स्वर्ग बताया गया है। सभी व्यक्तिगत और समाजगत जीवन क्रमो में, दोनों तत्वों का सम्मिश्रण होता है। मात्राभेद से नारकीय और स्वर्गिक जीवन को पहचाना जाता है।

जो सुख चाहते हैं उन्हें पूर्णमय उचित, समाज-सम्मत, शास्त्र-सम्मत श्रेष्ठ कर्म करना चाहिये। दिव्य-जीवन प्राप्त होने पर भी पाप कर्म का फल दुःख होता है, जिसे भोगना पड़ता है, जैसे स्वर्ग में भी पर-स्त्री-गमन दहनीय माना गया है। पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्मो के फल-भोग के लिये पुनर्जन्म निश्चित है।

बंधनो से बंधे जीवन में दुःख होता है। पाप और पुण्य दोनों ही बन्धन-कारक हैं। कर्मों की विषद व्याख्या करने वालो ने अन्त में यही स्वीकार किया है कि कर्मफलों से बंधा जीव, शरीर और रूप धारण करता रहता है और नाना प्रकार के सुख, दुःख, तथा मिश्रित भोग प्राप्त करता है। इसीलिये विद्वानों का मत है कि फलाकांक्षा न करने वाला व्यक्ति, कर्म तो करता है लेकिन बंधता नहीं। किसी प्रकार के कर्म में राग नहीं होना चाहिये। कर्म तो करना ही पड़ेगा क्योंकि मानवी-सृष्टि रजोगुणी है और इस सृष्टि में, कर्म नितान्त निश्चित नियम है। फलासक्ति का त्याग ही सर्वोच्च त्याग है।

नित्य और नैमित्तिक फलदाई कर्मो में राग न रखते हुए योग्य कर्मो में व्यक्ति प्रवृत्त हो। व्यक्तिगत संसार तो सुधरेगा ही साथ में व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास भी होगा। फल प्राप्त होगें, भोग मिलेंगे, परन्तु व्यक्ति बधेगा नहीं। योगाभ्यास भी कर्म है, लेकिन कर्म की व्याख्या को

भली प्रकार जानने वाला योगी, चेतना-स्तर के सिवा और कुछ नहीं चाहता। धीरे-धीरे विकास की आकांक्षा भी समाप्त हो जाती है।

पुण्य, पाप, कर्म, अकर्म, स्वर्ग, नरक, सुख, दुःख आदि की व्याख्याओं में व्यक्ति न फसे। कर्मणा गहनो गतिः। विकसित व्यक्ति, सभी तत्वों की सम्यक् व्याख्या सहज स्वाभाविक रूप में स्वयं समझ लेता है।

जीव को जानना चाहिये कि संपूर्ण लीला, चैतन्य सता की है। इसी को आत्मा कहा गया है। आत्मा ही देखने, सुनने, जानने एवं मनन करने योग्य है। यही सच्चा कर्मयोग है। श्रुतियों का निश्चित मत है कि आत्मा ही विचारणीय है। अन्य सभी तत्व आत्मा से ही उत्पन्न, प्रकाशित और भाषित होते हैं। पूर्ण विकसित चेतना ही आत्मा है। विकसित व्यक्तित्व और चेतना क्या नहीं प्राप्त करा सकते। ऐसे ही ज्ञानमय वचन सबके लिये सुसेव्य हैं, भली प्रकार जानने समझने योग्य हैं, क्योंकि यही मुक्ति और पूर्णत्व प्राप्ति के साधन हैं। आत्मा ही परमात्मा है।

भगवान शंकर कहते हैं कि अनेक रूपो में, पाप और पुण्य में, सुख दुःख आदि में, चित्त वृत्तियों को प्रेरित करने वाली सत्ता तो मैं स्वयं हूं। संपूर्ण सृष्टि मुझसे प्रेरित होती है। जगत के चर, अचर मेरे द्वारा, मुझमें ही भासित होते हैं और मुझमें ही लीन होते हैं। मै इस सृष्टि से भिन्न नहीं हूं और मुझसे भिन्न इस सृष्टि में कुछ भी नहीं है। मैं ही आदि अन्त और मध्य हूं। सैकड़ो थालियों में भरे जल में अनेक सूर्य दिखाई पड़ते हैं, लेकिन सूर्य एक ही है। मैं ही संपूर्ण सृष्टि में अनेक रूपों में भासित होता हूँ। मै ही आत्मा हूँ। रूपों पर आधारित ऐन्द्रिय जगत में भेद दिखाई पड़ते है। जितनी अधिक स्थूलता होगी उतनी ही विविधता दिखेगी। सूक्ष्म तत्वों की ओर बढ़ने पर अनेकता मिलने लगती है। सम्यक् ज्ञान होने पर रस्सी सांप नहीं दिखाई पड़ती और सीप में चांदी का आभास नहीं होता। सत्य का सामीप्य प्राप्त करना सभी का कर्त्तव्य भी है और सबके लिये सम्भव भी है।

परमात्मा के प्रति भ्रमित होने के कारण ही इस संसार में अनेकता मिलती है। आत्म-ज्ञान के पश्चात् जगत रहता है, लेकिन खिलवाड़ ज्ञान बढ़ता है। लगता है कि जो चाहे कर लेगें, सब कुछ अपने बस में है।

विकसित चेतना क्या नहीं कर सकती। संसार में अनुभव होने वाले बन्धन, दुःख निराशा, असफलता आदि भ्रान्ति और अज्ञान के फल है। सम्यक् दर्शन हाने पर जैसे रस्सी सांप नहीं रह जाती, उसी प्रकार आत्म-ज्ञान होने पर संसार के भ्रम स्वयं नष्ट हो जाते हैं। आंखे खराब होने पर अथवा पीलिया रोग के कारण संसार पीला भासित होता है। आत्म-ज्ञान न होने के कारण ही संसार की वस्तुयें त्यागने, छोड़ने अथवा उनके घटने से बड़ा कष्ट होता है। जैसे दृष्टि के दोष दूर होने पर सफेद वस्तु पीली नहीं सफेद दिखाई देती है, उसी प्रकार ज्ञान शुद्ध होने पर अज्ञान और भ्रम का अन्त हो जाता है। आत्मा की लीला के अलावा अन्य कुछ अनुभव में नहीं आता! आत्म-ज्ञान की यही प्रक्रिया है। जैसे तीनों काल में रस्सी सांप नहीं हो सकती, वैसे ही आत्मा स्थूल विश्व नहीं है। विश्व है स्थूल, परन्तु आत्मा है सूक्ष्माति-सूक्ष्म-निरंजन-गुणातीत, अनत् परमसत्ता अथवा ब्रह्म।

महान् दार्शिनकों का निश्चित मत है कि ईश्वर समेत समस्त सृष्टि का विनाश और निर्माण हुआ करता है। आत्म बोध होने पर सब स्वयं ही समझ में आ जाता है। अन्य किसी राह से यह बात समझाई नहीं जा सकती। बुद्धि और तर्क के परे जाना ही होगा। ससीम माध्यमों से असीम केवल आभास हो सकता है। पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर सीमा नहीं रहेगी। सब कुछ असीम सत्तामय हो जायेगा। मन, बुद्धि, शरीर, कर्मवचन और भावना के परे सत्चित आनन्दधन है। जहां परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय तत्व एक रस हो जाते हैं। परिवर्तन होते हैं परन्तु प्रभावित नहीं करते।

### सृष्टि लीलाक्रमः

जैसे समुद्र में वायु के कारण फेन बुदबुदे आदि अनेक आकार उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार चेतना के समुद्र में स्पन्दन होने के कारण सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती है। महत् चेतना ही स्पन्दन के कारण अनेक रूप धारण करती है। रूप आकार नष्ट होने पर चेतना समुद्र में सब कुछ फिर शुद्ध रूप में मिल जाता है। जैसे समुद्र में जल प्रधान है, यद्यपि अनेक अन्य तत्व भी जल में मिले हुये हैं, उसी प्रकार ईश्वर, आकाश तथा अन्य स्थूल तत्वों के विद्यमान होने पर भी, चेतना समुद्र

में सब कुछ चेतनामय है। यही चेतना आत्मा कही गई है।

मानव जीवन में, समय को हम वर्षों, महीनों दिनों आदि में नापते हैं, लेकिन अनन्तकालगणना में, मानव जीवन के सौ या पचास वर्ष क्षण समान हैं। इसीलिये मानव जीवन क्षणभंगुर कहा गया है। भ्रम के पर्यवसान होने पर स्वरूप परिवर्तन में मोह नहीं रहता।

सूक्ष्मतम चेतना के स्पन्दन से यह सृष्टि उत्पन्न होती है। स्थूलतर और स्थूलतम हो जाती है। सत्य ज्ञान होने पर जो नित्य वस्तु है जिसे आत्मा, परमात्मा परमसत्व आदि नाम दिये गये हैं, वही दिखायी देती है। स्थूलता से उत्पन्न भेद, चेतना तत्व में ही विलीन हो जाते है। जब तक भेद बुद्धि है, तब तक भ्रम है। सृष्टि लीला के आदि में जो तत्व था और वही जो अब भी सब में है तथा जो भविष्य में भी रहेगा, जो अपरिवर्तनीय है, वही स्थूल और सूक्ष्म सबका आधार है। सबमें ओतप्रोत है। इससे अन्य नित्य, सत्य, तत्व कोई नहीं है। समस्त सृष्टि परमात्मा में भासित, प्रकाशित, दृष्ट होती है। सब कुछ परमात्मामय है।

विद्वानों ने कल्पना अर्थात मस्तिष्क के द्वारा इस परिवर्तनशील जगत की परिभाषायें बनानें ओर इसे समझने के प्रयत्न किये। जब अविद्या ही जगत का मूल कारण है तो यह अपरिवर्तनीच और नित्य सत्य कैसे हो सकता है? स्थूल के जिस स्तर पर हम हैं, वहीं से सूक्ष्म स्तरों की ओर बढ़ें और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व आत्मा को पहचान लें। जब चैतन्य तत्व से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ चराचर सृष्टियां इसी के अंग हैं, तो अन्य सभी तत्वों को पाकर सूक्ष्म तत्व को जानने का प्रयास ही सर्वश्रेष्ठ है।

जैसे घट के भीतर और बाहर आकाश व्याप्त रहता है, उसी प्रकार सभी चर-अचर रूपों में, प्राणियों में, कार्य समूहों में वाह्य एवं अन्तः जगत के कार्यो मे, व्यक्ति और समाज के कर्म और विचार समुच्चय में, चारों तरफ आत्मा विद्यमान रहता है। यह निश्चित है कि आत्मा, सभी कार्य समूहों से असंलग्न है। जैसे आकाश शून्य सभी रूपों के भीतर और बाहर रहता हुआ भी, निर्विकार रहता है। अपना विकार रहित स्वरूप कभी नही त्यागता। यद्यपि आकाश अन्य सभी तत्वों में समाहित रहता है। आत्मा, यदि विकारी हो जाये तो शुद्ध तत्व नहीं रहेगा और

मरण-धर्मा हो जायेगा।

ईश्वर आदि देवताओं समेत सम्पूर्ण सृष्टि, आत्मा द्वारा व्याप्त क्रियाशील और जीवित है। वही सत्‌चित-आनन्द-धन, पूर्ण, द्वैतहीन, अद्वैततत्व है, जिसका कोई प्रकाशक नहीं है। जिसके प्रकाश से सभी प्रकाशित हैं, सभी शोभा पाते हैं, वह आत्मा पूर्ण है, स्वयंप्रभा है। देश काल परिस्थिति और रूप से आत्मा बंधा नही है। सब जगह व्याप्त है। उपाधियों के कारण, आत्मा की अलग अलग सत्तायें नहीं मानना चाहिये। इसका कभी रूप परिवर्तन नहीं होता, घटाव और बढ़ाव नहीं होता। नाश और निर्माण तो पंच महाभूतों का होता है। आत्मा नित्य एक रूप है। यह निश्चित सत्य है। इस तत्व से भिन्न कोई सत्ता इस सृष्टि लीला में नित्य नहीं है। आत्मा एक ही भाव में स्थित रहता हैं, एकरस है। इससे भिन्न अन्य सभी तत्व परिवर्तनीय हैं, इसीलिये शास्त्रों ने जगत लीला को मिथ्या बताया है। यदि आत्मा में कुछ जुड़ने या निकलने वाला रहे तो आत्मा भी सीमित तत्व हो जायेगा।

संसार-प्रपंच अविद्या के कारण सत्य भासित होता है। इस संसार में दुःख नाश और सुख प्राप्ति के लिये, ज्ञान पूर्वक विचार करके, आदि अन्त से रति एकरस आत्मा में स्थित होना चाहिये। आत्मा ही सुख स्वरूप है। जिस व्यक्ति का अज्ञान नष्ट हो जाता है अथवा जिसे सत्य-ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसके लिये अविद्या और अज्ञान पर आधारित विश्व-लीला बन्धन कारक नहीं रह जाती। यही आत्म-ज्ञान है, यही सनातन सत्य है। अनन्तकाल से यही ज्ञान अवाधित भाव से अविछिन्न रूप में चला आ रहा है। इसका रूप नहीं बदला, अन्य सभी सीमित ज्ञान बदलते रहे।

यह सृष्टि, काल पर आधारित है। समय से निर्माण और विनाश हुआ करता है। लीला ही बिगड़ती है। आत्मा तो त्रिकालावाधित एक भाव में स्थित रहता है। इस आत्मा का ज्ञान कल्पना एवं इन्द्रिय-अनुभव के परे है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ईश्वर, जीव, देवसमूह आदि सभी सत्तायें भेद-प्रभेद से गुण युक्त है, अपूर्ण हैं। केवल आत्मा ही गुणातीत पूर्णतत्व है। वाह्य आवरण और आकार वाले तो सभी समय के साथ नष्ट हो जाते है। जहां वाणी चित्त और मन गति नहीं, ऐसे

आत्मा में द्वैत-भाव असम्भव है। अपने में निश्चित भाव से सर्वव्यापी आत्मा को अभ्यास द्वारा योगी देख पाता है। सिद्ध योगी साधारण मनुष्य की तरह सांसारिक कर्मों को करता हुआ, प्रारब्ध को भोगता हुआ संकल्प विकल्प रहित होता है। सांसारिक कार्यों में लगे रहने पर भी, कुण्ठारहित बना रह सकता है। अपने आत्मा में स्थित एकरस आत्मभाव में सिद्ध योगी ही कुण्ठारहित बना रह सकता है। अपने आत्मा में स्थित अर्थात् अपने स्वरूप को जानने वाला आत्मा को सृष्टि लीला का कर्त्ता, नियामिक भोक्ता मानता हुआ, आत्म-सुख में रमण करता है। सबमें आत्मा के दर्शन करता है। संसार-प्रपंच में रहता हुआ भी, योगी निर्लिप्त रहता है। सहज समाधि की स्थिति रहती है, उसका ज्ञान दृढ़ हो जाता है। परिस्थितियों से बंधा वह पशु समान नहीं रहता। परिस्थितियों को बनाने, बदलने के क्षमता प्राप्त कर लेता है। लीलापति से एकत्व स्थापित करने पर योगी में भी लीलापति की सर्व-व्यापकता, सर्व-शक्तिमत्ता प्रकट होने लगती है। सहज समाधि की स्थिति में अनन्त सुख की अनुभूति अबाधगति से प्रवाहित रहती है।

## माया

माया विश्व-जननी है। इससे भिन्न कोई अन्य तत्व सृष्टि रचना का कारण नहीं है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश आदि भावों को उत्पन्न करके सृष्टि को माया आच्छादित करती है। माया स्वयं को ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति और इच्छा शक्ति में विभाजित कर सम्पूर्ण सृष्टि को कर्म में प्रेरित करती है। माया को, महामाया, महाशक्ति आदि नामों से वर्णित किया गया है। माया शक्ति को ठीक ठीक समझ लेने पर विश्व लीला महत्वहीन हो जाती है। सब कुछ माया का खिलवाड़ जान पड़ता है। माया के कारण सब भूतों में समान रूप से व्याप्त आत्मा में भी द्वैत का आभास होता है। जो कुछ भी अनुभव में आता है, माया का विलास है। माया तो आत्मा से निम्नकोटि की तरंग-लीला है। "मीयते इति माया"। जो परिवर्तनशील है, वह सब माया है।

आत्मभाव मे स्थित व्यक्ति माया-लीला में प्रीति राग अथवा आसक्ति नहीं मानता। माया से उत्पन्न सभी सुख शरीर के है। सुख-भाव इन्द्रिय मन और बुद्धि तक सीमित है। आत्मा इन से परे है।

मायामय संसार व्यवहार दृष्टि से तीन भावों को प्राप्त होता है, शत्रु, मित्र, तथा उदासीन। दैनिक व्यवहार मे इन्हीं तीन भावों का अनुभव होता है। भावनाओं और विचारों पर आधारित प्रिय और अप्रिय का भेद वस्तु-जन्य है। भेद शाश्वत तथा नित्य नहीं है। प्रिय और अप्रिय के मापदंड भी बदलते रहते हैं। अपनी भावनाओं के कारण वही पुत्र कभी प्रिय तो कभी अप्रिय लगता है। अपने भीतर स्थित बुद्धि और मन ही शत्रु और उदासीन भावों के लिये उत्तरदायी हैं। योगी के लिये न कुछ प्रिय है न कुछ अप्रिय है, न वह उदासीन है और न लिप्त है। श्रुतियों को युक्तिपूर्वक पढ़कर, व्यक्ति को जान लेना चाहिये कि सम्पूर्ण विश्वलीला माया पर आधारित है। अध्यारोप और अपवादन्याय से योगी माया-तत्व को चैतन्य तत्व में लय कर लेता है।

कर्मों के फलस्वरूप संसार उत्पन्न होता है। अतः ज्ञान के द्वारा कर्मों के स्वरूप को समझ लेना चाहिये। सत्य को जानने से समस्त उपाधियां, जो माया और भावनाओं पर आश्रित हैं और द्वन्द उत्पन्न करती हैं, उनसे परे जाकर अखण्ड ज्ञान रूपी निरन्जन तत्व को प्राप्त करके व्यक्ति वही हो जाता है। मालिक बन जाता है, दास नहीं रहता। सकामभाव में आना, परिग्रह एवं अपरिग्रह आदि सभी द्वन्द्वमयी भावनायें उसके वश में होती है। वह विश्वपति के समान अपने विश्व की सृष्टि और प्रलय इच्छानुसार करने में समर्थ होता है। माया से मुक्ति की तथा आत्मतत्व में गति की यही प्रक्रिया है। संसार के सभी धर्मो ने इसी भाव-साधना को श्रेयस्कर बतलाया है।

जिस किसी भाव या वस्तु में अविद्या अथवा अपूर्णता का आभास मिले, यह परिवर्तनीय है। अपरिवर्तन की सीमा तक सब माया है। शुद्ध ब्रह्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार ज्ञान अथवा विद्या से ही हो सकता है, अविद्या से नहीं। यद्यपि माया ब्रह्म से बाहर नहीं है, फिर भी ब्रह्म-ज्ञान तक पहुंचने के लिये बुद्धि मन और इन्द्रियो को अभ्यास द्वारा शनैः शनैः तैयार करना चाहिये।

ब्रह्म शुद्ध चैतन्य सत्ता है। वेदान्त जिस रूप में ब्रह्म को मानता है वह क्रियाहीन स्पन्दन रहित चैतन्य तत्व है जो न कुछ उत्पन्न करता है न नष्ट करता है परंतु सब कुछ उसी में आधारित है। ब्रह्म की यह

व्याख्या दर्शन शास्त्र में भारत की अद्वितीय देन है। ईश्वर क्रियाशील है। ब्रह्म निराकार अनिर्वचनीय है। ईश्वर सकार भी है और ब्राह्मी स्थिति में निराकार है। अविद्या (माया) से संबंधित होकर ब्रह्म से ईश्वर-तत्व अथवा महतत्व या महामाया, महतत्व से शुद्ध अंहकार, उससे आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज अथवा अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पति मानी गई है। चैतन्यसमुद्र के स्पन्दन को महामाया कहते है। महामाया में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और इच्छा-शक्ति प्रस्फुटित होती है। ईश्वर अथवा महामाया इन तीन शक्तियों के रूप में बुद्धिगम्य है।

आकाश का गुण शब्द है। वायु का गुण स्पर्श है। वायु में शब्द भी होता है क्योंकि आकाश से उत्पन्न होने के कारण उसका गुण प्राप्त करता है, और अपने विशिष्ट गुण, स्पर्श के कारण भिन्न नाम प्राप्त करता है। अग्नि में प्रकाश, तेज रूप का ज्ञान होता है। इसमें पूर्ववर्ती दोनों महाभूतों के गुण शब्द और स्पर्श भी विद्यमान है। अपने पूर्वगामी तीन महाभूतों के गुण शब्द स्पर्श रूप को भी लिये रहता है। पृथ्वी स्थूलतम है। इसका विशिष्ट गुण गन्ध है परन्तु इसमें शब्द, स्पर्श, रूप, एवं गंध भी उपस्थित है। यद्यपि सबकी उत्पत्ति मूलतः ब्रह्म अथवा आत्मा से है, फिर भी जैसे-जैसे स्थूलता बढ़ती गई नये-नये गुण जुड़ते गये। गुण की विशिष्टता पर नाम ओर रूप के भेद आधारित है। ब्रह्म को ही समझने और अनुभव योग्य करने के लिये आत्मा की संज्ञा है। ब्रह्म और आत्मा गुणतीत है।

मानव शरीर में पंच महाभूतों के गुणों को ग्रहण करने के लिये, पांच ज्ञानेन्द्रियां है। इन्हीं के माध्यम से हम अपने स्पन्दन क्रम की सीमाओं के अन्दर सृष्टि का अनुभव करते है। सृष्टि गुणमयी है, मायामयी है। ब्रह्म गुणातीत है।

आकाश का गुण शब्द है–ज्ञानेन्द्रिय श्रवण है। वायु का विशेष गुण स्पर्श हैं ज्ञानेन्द्रिय त्वचा है। अग्नि अथवा तेज का विशिष्ट गुण रूप है, इसकी ज्ञानेन्द्रिय चक्षु है। जल का विशिष्ट गुण रस है–ज्ञानेन्द्रिय रसना है, तथा पृथ्वी का विशिष्ट गुण गंध है और इसकी ज्ञानेन्द्रिय घ्राण है।

सब कुछ चैतन्य से उत्पन्न हैं। चर-अचर, रूप-समुदाय, एवं मानवी

सृष्टि की सीमित स्पन्दन गति के अनुभव क्षेत्र के परे की अन्य सब सृष्टियां भी चैतन्य समुद्र की तरंगों के भिन्न-भिन्न स्तरों पर उदित होती हैं। समुद्र का रूपक पूर्ण व्याख्या नहीं करता परन्तु सूक्ष्म सत्ता को बुद्धिगत करने के लिए निकटतम उदाहरण लिया गया है।

सृष्टि के प्रलय-क्रम को भली-भांति जान लेने से चैतन्य सत्ता की एकरसता, व्यापकता, अपरिवर्तनीयता का आभास मिलता है। स्थूलतम तत्व-पृथ्वी-प्रलय क्रम में जल में मिल जाता है। जल अग्नि में, अग्नि वायु में और वायु आकाश में मिल जाते हैं। आकाश तत्व अहंकार में, अहंकार तत्व महतत्व में और महतत्व परमतत्व अथवा परमसत्ता या शुद्ध चैतन्य मे लीन होता है। अविद्या अर्थात् अज्ञान या सीमित ज्ञान ही आवरण शक्ति है। यही द्वैत उत्पन्न करती है। इसे जान लेने पर आत्मा जो पूर्ण सुखरूप है उस का आभास मिलता है।

माया की विक्षेपशक्ति के कारण ही जगत सत्य और सुखदायी दिखाई पड़ता है। महामाया में सूक्ष्मरूप से जड़त्व निहित है। अनुभव में आने वाले पांच महाभूतों में आकाश सबसे सूक्ष्म है, परन्तु उसमें भी जड़ता है। यद्यपि उसमें पृथ्वी के समान जड़ की सधनता नहीं है। महामाया से सत्व, रज और तम का आरम्भ होता है। आत्मा चैतन्य है, गुणातीत है। प्रत्येक व्यक्ति में चैतन्य है। व्यक्ति स्वयं को जब जड़ से सम्बन्धित कर लेता है और अपने चैतन्य-स्वरूप को विस्मृत कर देता हैं, तब सुख दुःख आदि द्वन्दों का अनुभव करता है। व्यक्ति में सूक्ष्मातिसूक्ष्म चैतन्य तत्व से सघनतम जड़ तत्व-पृथ्वी तक सभी तत्व विद्यमान है। तत्वों के अनुपात-भेद के कारण सृष्टि की विविधता है। अणु परमाणु की संरचना अथवा अनुपातों को बदल देने से, एक वस्तु दूसरी वस्तु या रूप में परिणत की जा सकती है। महर्षि पंतजलि ने इसे पदार्थ परिणाम की संज्ञा दी है। शास्त्रों का मत है कि जो एक शरीर में है, वही ब्रह्मांड में है।–"यत्पिण्डे तद्ब्रह्मांण्डे।"

जड़ता से चैतन्य की ओर की यात्रा, हमारे सुख को शुद्ध, सूक्ष्म एवं धनीभूत करते हुए, आनन्द का रूप प्रदान करती है। महामाया की विक्षेप और आवरण शक्ति के कारण ब्रह्म ही जगत के रूप में भासित होता है। महामाया के क्रियावैचित्र्य को ही शास्त्रो में दुर्गा, महाकाली,

लक्ष्मी, महालक्ष्मी, सरस्वती आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया गया है। देवताओं की कल्पना भी इसी प्रकार गुण और कर्म-विशिष्टता पर आधारित है। चैतन्य जब महामाया की आवरण शक्ति से युक्त होता है तो अपनी रूचि और मति के अनुरूप विद्वान पुरूष उसका वर्णन ईश्वर अथवा अन्य देवताओं के रूप में करते हैं।

चैतन्य से जड़ और जड़ से चैतन्य की ओर यात्रा की व्याख्या ही, सृष्टि रूपी समस्या-निर्माण और प्रलय का पूर्ण विश्लेषण है। मनुष्य की ज्ञान-शक्ति सीमित है। पूर्ण का अनुभव किया जा सकता है– तर्क से समझा नहीं जा सकता। समाधि अवश्य व्यक्ति को पूर्णत्व प्रदान करती है। शरीर एवं इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त करते हुये, चैतन्य के अनुभव में सहायता करती है।

परिवर्तनशील जगत में आत्मा ही शाश्वत है, अन्य सब रूप, स्वरूप एवं वस्तुएं, भूत समुदाय कहे गये है। अपनी भावना के कारण चैतन्य ही सब रूपों में भिन्न आभास देता है। भिन्न भिन्न रूपो में आत्मा को देखना चाहिये, जो एकरस चैतन्य है, पूर्ण आनन्द-स्वरूप सत्य है सम्पूर्ण सृष्टि में वही व्याप्त है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इस ज्ञान का जो नित्य चिन्तन करता है, वह मरण-धर्मा संसार के दुःखों से मुक्ति का अनुभव करता है। संसार यथार्थतः लीलाक्रम ही जान पड़ता है। जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द हैं, उसी प्रकार व्यक्ति भी आत्मभाव में स्थित होकर आनन्दमय हो सकता है।

सृष्टि खिलवाड़ है लीला है, यह आरोप और अपवाद न्याय से भी सिद्ध है। एक अपरिवर्तनीय ब्रह्म में ही सब कुछ का निर्माण और लय होता रहता है। मुक्त योगी अर्थात पूर्ण व्यक्ति के चित्त मे इससे भिन्न कोई भाव नही रह जाता।

## कर्म और सृष्टि

शरीर, बुद्धि और मन से होने वाले कर्म चेतना-सागर में स्पन्दन उत्पन्न करते हैं। स्पन्दन से अणु परमाणुओं की क्रिया आरम्भ होती है। अपने अपने जीवन काल में हम सभी अनुभव करते हैं कि हमारे विचार कर्म और भावनायें किस प्रकार हमारे शरीर, आयु इत्यादि में परिवर्तन

लाते रहते हैं। एक क्रोधी व्यक्ति का चेहरा क्रूर और भयावह हो जाता है। वही व्यक्ति यदि क्रोध त्याग दे शांत रहने लगे तो क्रूर और भयावह चिन्ह नष्ट हो जायेगें व्यक्तित्व आकर्षक हो जायेगा।

परमाणओं के सम्पिलन, अलगाव, विनाश निर्माण आदि के नियम हैं। हमारे कर्मों विचारों और भावनाओं के अनुसार हमारे व्यक्तिगत परमाणु बदलते है और शरीर की आयु पूरी होने पर समान भाव वाले अणु-परमाणु नियमाधीन, कर्म-श्रृंखला एवं वासना-माला के अनुरूप उपयुक्त स्थान, समय, परिवार, देश आदि को, पुनर्निर्माण पुनः मिलन हेतु-चुन लेते हैं। शास्त्रो ने कर्म विचार भावनाओं आदि में सामूहिक रूप को कर्म संस्कार कहा है। चेतना के अनन्त सागर में अणु परमाणुओं के मिलन और विच्छेद के कारण ही सृष्टि बनती और बिगड़ती रहती है अर्थात् बदलती रहती है। पूर्व कर्मों के अनुसार माता-पिता के अन्नमय कोष के माध्यम से जीव का पुर्नजन्म होता है। शरीर का बनना, बढ़ना और नष्ट हो जाना स्थूल जड़ अथवा प्राकृतिक शक्तियों के खिलवाड़ या सनंक पर आधारित है। प्रबल सृष्टि-नियमो पर ही सब कुछ आधारित है, इसीलिये शरीर के भागों को अत्यधिक महत्व नहीं देना चाहिये। शरीर ही सुख है, ऐसा नही मानना चाहिये। स्थूल शरीर की तुलना में कर्म, विचार, भावनायें और इनसे भी सूक्ष्म सूक्ष्मतर तत्व संस्कार आदि अधिकाधिक महत्वपूर्ण हैं। इसलिये शास्त्रों ने कहा है कि जो जैसा करता है, वैसा फल पाता है।

मांस, अस्थि, स्नायु, मज्जा, नाड़ी आदि से बना यह शरीर ही सब कुछ भोगता रहता है। सब सांसारिक अनुभवों और क्रियाओं का माध्यम शरीर ही है। भोग आत्मा के नहीं है, शरीर के है। शुद्ध चैतन्य आत्मा को इसी कारण द्रष्टा कहा गया है। जब तक शरीर रहेगा, चाहे अनचाहे ही भोग, प्रिय और अप्रिय का संयोग तथा वियोग होता रहेगा। भोगों को, जो परिस्थितियों और प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त होते हैं, आसक्ति पूर्वक भोगने से दुःख उत्पन्न होता है। सभी भोगों को चाहे बिना, प्रारब्ध लीला का अंग मानकर, ग्रहण करने में, न दुःख रहता है न सुख, सब कुछ आनन्दमय हो जाता है। बहुत ऊची अवस्था में यह भाव दृढ़ हो पाता है। सभी इस भाव के अधिकारी नहीं है। इस उच्चतम अनुभूत

मत का अनधिकारी व्यक्ति अधिकतर दुरुपयोग ही करते आये है।

पंचभूतों से बने इस शरीर को अच्छी तरह समझ कर जान लेना चाहिये कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड में द्वन्द्व है, सुख-दुःख आदि है। वस्तुओं और रूपों में सुख भाव अपनी ही कल्पना पर आधारित हैं।

बिन्दु शिव है, रजः शक्ति है। शास्त्रमतानुसार शिव और शक्ति के संघात से अनेक भूत समुदाय उत्पन्न होते हैं। जड़ रूपा सृष्टि में शिव और शक्ति तत्व भी जड़ है। जड़ में स्थित यही निर्माण शक्ति, लीला क्रम में नियमों के अनुसार क्रिया करती रहती है। प्रकृति में सब कुछ नियमों पर आधारित क्षणिक संवेग और आवेग नहीं चलते। नियम निश्चित हैं।

महाभूतों के पंचीकरण नियम से स्थूल जगत की उत्पत्ति होती है। यही आत्म-संख्यार्णिका मत है। ब्रह्मांड में सब कुछ कर्मानुसार उत्पन्न होता है। भगवान् शंकर कहते हैं कि पंचभूतों के मिश्रण से अनेक रूपों की उत्पत्ति पूर्व कर्म के भोगों के लिये मैं करता हूं। भोग हेतु उत्पन्न होने वाले तत्व-संघात के सामूहिक रूप को जीव की संज्ञा दी गई है, [illegible] र्मश्रृंखला और वासना माला से बंधा रहता है।

आत्मा जड़ तत्व से रहित है। वह अनेक रूपों भूतों वस्तुओं में प्रवाहित होकर उन्हें जीवित अवस्था प्राप्त कराता है। जीव भी जड़ है, परन्तु पंच महाभूतों से अधिक सूक्ष्म है। वही जीव कर्मानुसार, विविध रूप धारण करते हुये, भोग प्राप्त करता रहता है। अपने कर्मफल के भोगों के लिये ही जीव पुनः पुनः उत्पन्न होता है। जब जीव में कोई जड़ता नहीं रह जाती, तब वही आत्मा बन जाता है। इसी नियम पर, फलाशा-त्याग का सिद्धांत आधारित है।

अनेक शरीरों, रूपों, योनियों और सृष्टियों अनादि वासना और कर्म-श्रृंखला के कारण परमाणुओं के माध्यम से जन्म-मरण अथवा रूपान्तर होता रहता है। नाना गुणों से ओत-प्रोत जीव, सभी व्यापारों का करने वाला तथा पूर्वार्जित संस्कार के अनुसार भोग प्राप्त करने वाला है। सृष्टि के भिन्न भिन्न स्तरों पर जो कुछ उत्पन्न होता है, नष्ट होता है अथवा जो भोग प्राप्त होते हैं, कुछ कर्मो के कारण हैं। जीव पशु के समान कर्मफल भोगता रहता है। कर्म से उत्पन्न होने वाले फल ही

दुःख-सुख का सृजन करते हैं। जीव की प्रवृति भी संस्कारों के अनुरूप ही होती है। माया की उपाधि और माध्यम से चैतन्य में सृजन और विनाश की संपूर्ण लीला होती रहती है।

इस सृष्टि में जो कुछ प्रपंच भासित होता है वह कर्म से उत्पन्न, कर्म फलस्वरूप है। सब जीव पशु के समान कर्मानुसार व्यक्तिगत एवं सामूहिक भोग तथा कर्म किया करते हैं। कर्म तो इच्छाओं से उदित होते हैं। कर्मो को इच्छा-दोष भी कहा गया है। काल-चक्र, कर्म-चक्र भी कहा गया है। काल-दोष भी कहा है। काल-चक्र, कर्म चक्र और लीला-क्रम में रमता जीव विविध रूपों में उत्पन्न होता रहता है और कर्म श्रृखंला एवं वासना माला से उत्पन्न फल भोगता रहता है सीप में चांदी का भ्रम होता है। आत्मा में जीव का भ्रम इसी भांति का है। सीप कभी चांदी नहीं होती, रस्सी कभी सांप नहीं होता, आत्मा कभी जीव नहीं होता।

भिन्न भिन्न मतों और संप्रदायों ने ब्रह्म की अनेक परिभाषायें बना दी। ब्रह्म-अनुभव में आता है, कांच की आंखों से नहीं प्राप्त होता। आवागमन जीव का होता है। आत्मा में आवागमन, प्रारब्ध और बन्धन आदि का आरोप भ्रम-जन्य है।

## आत्मा और पुनर्जन्म

पुण्य और पाप, दोनों कर्मफल हैं। जीव इनसे बंधता है। आत्मा शुद्धतम चैतन्य तत्व है। जब कोई रूप शरीर नष्ट होता है तो जीव ही अन्य जन्म प्राप्त करने के लिये जाता है। जीव का पुनर्जन्म होता है, आत्मा का पुनर्जन्म नहीं हो पाता। वह तो सम्पूर्ण सृष्टि में समान रूप से विद्यमान है। पाप और पुण्य ब्राह्य विकार है, जो भोग्य वस्तु का रूप धारण करते हैं। इनका संबंध क्रिया और फल से है। आत्मा निर्विकार है। कर्म-संस्कारो से बंधा जीव सुख और दुःख प्राप्त करता रहता है। चैतन्य पाप से परे है, अलिप्त है। उस चैतन्य-तत्व आत्मा में पाप अथवा पुण्य का आरोप भ्रम-जन्य है। यह कभी एकीभाव से अन्यथा नहीं होता, एकरस रहता है। यह सत्य है कि पाप और पुण्य उसी प्रकार कर्म-विकार जैसे अनेक वृक्ष पृथ्वी के विकार है। पाप और पुण्य की परिभाषायें

बदलती रहती हैं। समाज और व्यक्ति के लिये लाभदायी कर्म पुण्यमय होते है। कर्म करते हुए कर्तापन पर कर्तृत्वाभिमान रहने पर कर्म फल उत्पन्न करते है। लेकिन् बंधन कारक नहीं होते। कर्मठ होना मानवीय सृष्टि का नियम है। कुछ भी चेतन से भिन्न नहीं है, उसी पर सब कुछ आधारित है। माया के माध्यम से चैतन्य ही सब वस्तुओं का उत्पत्ति-कर्त्ता, पालनकर्त्ता, भोग्य और भोक्ता है।

उदाहरणार्थ, आकाश शून्य है और दीवारों से घिरकर दूषण ग्रहण कर लेता है। मकान के अन्दर का आकाश मकान से बाहर के आकाश से यद्यपि अलग नहीं होता, फिर भी दोषों के कारण भिन्न अनुभूति देता है। यह कहना भ्रम-जन्य एवं अनुचित होगा कि दीवारें गिरने पर वही आकाश जो पहले दीवारों में बंधा था या घिरा था, अपने में ही स्थित दूषणों के कारण अशुद्धत्व को प्राप्त हुआ, और जब उसी स्थान पर या अन्य स्थान पर दीवारें बनी, तो वही आकाश का टुकड़ा-विशेष, जो पहले दीवारों में बन्द था, फिर दीवारों में पूर्व दूषणों के कारण बंद हो गया। उदाहरण सीमित तथा सत्य की आंशिक व्याख्या करने वाले होते हैं, सत्य का पूर्ण निरूपण नहीं कर सकते। इसी प्रकार यह कथन भ्रम उत्पन्न करेगा कि आत्मा का पुनर्जन्म होता है। संस्कारों और जीवों का पुनर्जन्म होता है। चैतन्य, समान रूप से सम्पूर्ण लीला में व्याप्त है। यह भ्रम है कि चैतन्य का कोई अंग-विशेष बंध जायेगा। प्रारब्ध, संस्कार, कर्म, विचार, भावना आदि आत्मा को नहीं बांधते। यह भ्रांति है कि हम आत्मा में किसी जड़ वस्तु का आरोप करें या जड़ से आत्मा को बंधा माने। जीव भ्रमण करता है, आत्मा सर्वत्र व्याप्त रहती है। प्रारब्ध अथवा कर्मों से बंध कर जीव ही नाना योनियों में भोग प्राप्त करता है और कर्म भी करता रहता है। कर्म-शृंखला और वासना माला, इच्छाशक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति के माध्यम से विक्षेपावरण रूपों वाली यही महामाया है। वहां जीव है जो लिंग शरीर, कारण शरीर आदि का सम्बंधी और व्यवहारी है। आत्मा जीव नहीं है। दर्शन के इस उच्चतम् सिद्धान्त का दुरूपयोग करने पर, जीवन में अनेक भ्रांतियां दुःख, पाप आदि उत्पन्न होते हैं। चेतना-स्तर के अनुसार, अधिकारी-भेद बनता है, जो विकसित और अविकसित व्यक्तित्व का आधार है।

कालचक्र में पड़कर जीव विविध रूपों में उत्पन्न होते रहते हैं, कर्म-श्रृंखला एवं वासना का फल भोगते हैं सीप में जिस प्रकार चांदी का भ्रम होता है, उसी प्रकार जीव में आत्मा का आरोप भ्रम से ही उत्पन्न होता है अपने कर्मफल से उत्पन्न आवागमन, दुःख, सुख आदि को हम व्यर्थ ही ब्रह्म सत्ता पर आरोपित करते हैं। ईश्वर दुःख उत्पन्न क्यों करता है ? बुरा फल क्यों होता है ? सत्कर्म करने पर भी दुःख आता है इत्यादि भाव भ्रम पर आधारित है।

उत्पन्न और लय होने वाले भूत-समूह का, इन्द्रियों से अनुभव में आने वाले तत्वों का और सृष्टि का यथार्थ ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। विशेष दृष्टि द्वारा ही सत्य का (ज्ञान) साक्षात् होता है। बुद्धिगत तर्क का सम्बन्ध देखने और दिखाने वाली माया से है। अपने दृष्टिकोण पर अपना अधिकार ही साधना का श्रेय है।

मुक्ति का अर्थ है सत्य का ज्ञान। सभी लीलाओं को ठीक-ठीक समझना होगा। ब्रह्म सत्ता अथवा चैतन्य तत्व इस विश्व लीला से बाहर नहीं रहता। वह तो सभी में समान रूप से विद्यमान है। स्वर्ग, ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, वैकुण्ठ आदि चेतना के विभिन्न स्तरों पर आधारित मानवीय-सृष्टि से अधिक सूक्ष्म लीलास्तर है। जब सृष्टि ब्रह्म में ही स्थित है, चैतन्य से ओतप्रोत है तो हम मुक्त होकर कहां जाने की बात सोचें ? आज तक जितना दर्शनशास्त्र बना उसमें ब्रह्म अथवा चैतन्य से आगे की बात नहीं मिलती। पूर्णत्व, सम्यक् ज्ञान, मुक्ति, सत्य ज्ञान, ब्रह्मैक्य आदि पर्यायवाची है।

यह निश्चित सत्य है कि ऊपर लिखे विश्लेषण से भिन्न मुक्ति का अन्य अर्थ नहीं हो सकता। चैतन्य को जानकर उसी में स्थित हो जाना मुक्ति है। यही पूर्णत्व का धर्म सम्पूर्ण सृष्टि पर लागू होता है। जाने-अनजाने, अनेक चैतन्य की ओर अग्रसर है, जहां सब कुछ असीम है सूक्ष्म से स्थूल की ओर मात्रा बंधन है। स्थूल की ओर जाना चेतना स्तर का विकास है। पूर्ण विकास मुक्ति है।

भ्रम अथवा माया के स्वरूप को ठीक-ठाक समझ लेना ही सत्य ब्रह्म का साक्षात्कार है। आवरण और विक्षेप शक्तियों को जान लेना ही ब्रह्ममय होना है। सत्य-ज्ञान से द्वैत, विभिन्नता, अनेकता आदि का आभास कराने वाली माया का प्रभाद दूर होता है। यह भ्रम है कि ब्रह्म इस संसार में नहीं है अथवा इससे परे है। विशेष दृष्टि प्राप्त प्राप्त होने पर ही भ्रम का निवारण होता है। अन्य किसी राह से सीपी में चांदी के भ्रम का निवारण नहीं हो सकता। परमसत्ता का साक्षात्कार ही मुक्ति का निश्चित मार्ग है। जब चैतन्य एक है, सत्य एक है, सब कुछ उसी में स्थित हैं, चैतन्य से हम बाहर नहीं है, तो मुक्ति के लिये हम उसे अन्यत्र ढूँढ़ने कहाँ जायें।

निश्चित सत्य है कि शरीर, भूत आदि कर्म से उत्पन्न होते हैं, जिन्हें अशरीरी चैतन्य चेतनता प्रदान करता है। वासना माया जीव की सहचरी है, आत्मा की नहीं। जो व्यक्ति संसार-सागर के पार का अनुभव करना चाहता है, चैतन्य में स्थित अथवा उससे एकाकार होना चाहता है, वह कर्म, अकर्म, विधि, निषेध, रूपसमुदाय आदि के रहस्य को, ठीक ठीक समझ ले यही साधना है। चेतना-स्तर का सतत् विकास ही साधना है। पूर्णत्व की प्राप्ति, मुक्ति का अनुभव, आनन्दमय से एकाकार होना ही साधना है साधना का चरम लक्ष्य है।

मानव सृष्टि में उत्पन्न होने वाले जीव अपने जाति, परिवार, संप्रदाय तथा देश काल परिस्थिति आदि के अनुसार कर्म करते रहते हैं और प्राप्त हुए फल में सुख मानते हैं। जब तक हमारा सुख, ब्रह्म वस्तुओं अथवा रूपों पर आधारित है तबतक, द्वैत रहेगा, मिश्रित अनुभव प्राप्त होगें। संसार-लीला में द्वैत-अनुभवों का सिद्धान्त निश्चित है।

संसारी विषयों में आसक्त होता है। आत्मभाव में स्थित व्यक्ति, उचित अनुचित कर्मो की सामाजिक व्याख्या को मानता हुआ, सभी कर्मो को अलिप्त भाव से करता रहता है। उसे पाप और पुण्य नहीं लगते, संस्कार नहीं बनते। सभी पद्धार्थो में, क्रियाओं तथा विचार-जगत में भी वह चैतन्य का दर्शन करता है। वह जानता है कि चैतन्य से भिन्न कुछ नहीं है। आत्मज्ञानी में षट् विकार कामना, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य तथा बंधन कारक लक्षण राग द्वेष, अविधा, अस्मिता, अभिनिवेश भी

सत्य ज्ञान के कारण नष्ट हो जाते है। ऐसी जाग्रत अथवा विकसित चेतना वाला व्यक्ति, जिसका व्यक्तित्व पूर्णतया परिष्कृत हो चुका है, संसार के उचित कर्मों को करता हुआ भी किसी बन्धन अथवा दोष को प्राप्त नहीं होता। जब एक चैतन्य तत्व से भिन्न अन्य कुछ अनुभव में ही नहीं आता, तब आत्म-दर्शन अथवा समदृष्टि प्राप्त होती है, जो सत्य का दर्शन और पूर्णत्व का अनुभव कराती है। यही मुक्तावस्था है।

## साधना

हमारे पास जो शरीर, बुद्धि, मन, चेतना-स्तर, एवं संस्कार समूह हैं, वही हमारी साधना की आधार शिला है। जो हमारे पास है वह क्यों मिला, अन्य की पूंजी इससे भिन्न क्यों है, यह जानना होगा। ज्ञान-वर्धन करना होगा, सत्य का साक्षात्कार करना होगा। शरीर, बुद्धि और मन तीनों का परिष्करण करना होगा। शरीर व्यर्थ नहीं है, बहुत महत्व-पूर्ण है। व्यक्तित्व के अन्य अंग भी उतने ही महत्व के हैं। हृदय रूपी कमल में दिव्य प्राण और वासनायें स्थित हैं। अनादिकाल की कर्म श्रृंखला से बंधा, अंहकार युक्त प्राण ही वृत्ति-भेद से अनेक नाम रूपवाला बनता रहता है।

हम पहले प्राण को समझें कि यह क्या है ? जबतक यह शरीर में रहता है तब तक सब कुछ ठीक है। चला जाता है तो शरीर सड़ने लगता है, रूप-परिवर्तन हो जाता है। प्राण के पांच मुख्य भेद हैं, जिन्हे क्रिया भेद से अपान, समान, उदान, व्यान ओर प्राण कहा गया है। अन्य ५ प्राण भी हैं परन्तु गौण हैं। इनके नाम हैं—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय। इन दसों को कहीं-कहीं वायु और पवन भी कहा गया है। प्राण-वायु प्रमुख है और इसका स्थान हृदय देश माना गया है। अपान वायु प्रमुख गुदादेश में स्थित है। समान-वायुं नाभि-देश में, उदान कंठ क्षेत्र में और व्यान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। नाग आदि जो ५ गौण प्राण हैं और वायु की संज्ञा पाते है उनके काम इस प्रकार है। नाग वायु द्वारा उद्गार की क्रिया होती है। कूर्म वायु द्वारा नेत्र-उन्मीलन क्रिया, कृकल द्वारा भूख-प्यास, देवदत्त द्वारा खांसी और डकार का संचालन होता है। ब्रह्मांड में जो कुछ भी है, उसमें यही दस प्राण अथवा वायु व्याप्त है।

व्यक्ति का योग सिद्ध हो जाये अर्थात् सत्य से, चैतन्य से, युक्त हो जाये, अथवा उसका अनुभव कर ले तो वह सभी दुःखों या बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार की श्रेष्ठतम् गति प्राप्त हो, यही हमारी साधना का चरम उद्देश्य है। साधना पद्धति को सम्यक् रूपेण जानकर योगी को अनन्त सुख मिलता है। साधना की प्रत्येक क्रिया में प्रत्येक सीढ़ी पर सुख मिलता है। साधना की प्रत्येक क्रिया में प्रत्येक सीढ़ी पर सुख बढ़ना चाहिये। सीखी हुई विद्या अभ्यास से फलवती होती है। अभ्यास रहित विद्या फलहीन, बलहीन और दुःख वर्धक होती है। साधना आरम्भ करने से पहले सिद्धान्त भली भाँति समझ लेने चाहिये। केवल शारीरिक क्रिया शरीर को लाभ देगी। मन और बुद्धि के क्रिया में साथ रहने से व्यक्तित्व का सम्यक् विकास होगा। साधना में कष्ट का अनुभव हो तो साधना रोक दें, कारण ढूढें, पद्धति ठीक करें, योग्य व्यक्ति से सलाह लें, ग्रन्थ देखें और फिर साधना में लग जायें। किसी भी क्रिया को इतना अधिक न करें कि थकावट हो अथवा कार्य-क्षमता घटे। ईश्वर द्वारा हम इस जीवन में जिस कर्म में लगा दिये गये उसमें किसी प्रकार शिथिलता न हो। क्षमता, क्रियाशीलता, चित्तशांति, शक्ति, सामर्थ्य बढ़ते रहें और आलस्य, अज्ञान, मोह, भ्रम, अतिनिन्द्रा आदि कम होते जायें, तो समझना चाहियें कि साधना ठीक चल रही है। यही मापदण्ड है।

## शरीर

मानव शरीर में मेरूदण्ड महत्वपूर्ण है। इसी में भाव द्वीपों अर्थात् केन्द्रों या कमलो का स्थान है। इस शरीर में नदियों, सागर, क्षेत्र, क्षेत्राधिपति, क्षेत्रपाल, ऋषिमुनि, नक्षत्र, ग्रह आदि के स्थान माने गए हैं। इसमें सब पुण्य तीर्थ हैं, पीठ स्थान हैं, पीठाधिपति देवता भी हैं। सृष्टि का निर्माण एवं संहार करने वाली शक्तियां-चंद्र तथा सूर्य भी मानव शरीर में प्रतीक रूप से स्थित हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि महाभूत भी इसी शरीर में है। संपूर्ण सृष्टि में जो है, वह सूक्ष्म अथवा प्रतीक रूप से शरीर में विद्यमान है।

सृष्टि संरचना की मुख्य-मुख्य बातें समझ में आ जावें एवं शरीर रचना का आध्यात्मिक स्वरूप जान लिया जाय, इसीलिए यत् पिडं तत् ब्रह्माण्डं की बात कही गई है। शरीर से अधिक उपयोगी माध्यम हमारे

गास क्या हो सकता है, जो स्थूल सृष्टि रचना का चित्र हमारे पास उपस्थित कर दे समुद्र की लहर में समुद्र के मुख्य गौण सभी तत्व मात्राभेद से विद्यमान होते हैं। इसी प्रकार मानव-शरीर में भी सृष्टि लीला के सभी तत्व हैं। भिन्न-भिन्न शरीरों में तत्व-अनुपात अलग अलग होता है। तत्व-प्रवाधनता से ही चेतनास्तर जाना जाता है। मनुष्यों में विविधता तत्व-अनुपात-भेद के कारण है। अनुपात-भेद पूर्व कर्मो पर आधारित होता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए उपयोगी है कि अपनी तत्व-शुद्धि करता रहे और सृष्टि विकास-क्रम (Evolutionary process) में पीछे न रहे।

स्थूल से सूक्ष्म तत्वों का महत्व एवं बल अधिक है। व्यक्ति शनैः शनैः अपनी तत्व शुद्धि करता जाय। तत्व-शुद्धि पर ही व्यक्ति का ज्ञान, योग्यता, अनुभूति, सूक्ष्म दृष्टि, मानसिक प्रतिक्रियायें, भावना आदि का विशुद्ध अनुपात आधारित है। चेतना कै विकास के लिए आवश्यक है

शास्त्र-चिन्तन, पठन-पाठन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन (अच्छी तरह समझे हुए सिद्धान्त ओर अपने व्यक्तिगत जीवन में उनकी उपयोगिता में निश्चित मत होकर उन्हें आचरण में उतार लेना)। अनेक शारीरक क्रियायें तथा समस्त साधनायें तत्वशुद्धि के लिए है।

जिस प्रकार पृथ्वी की स्थिति के लिए पर्वत-श्रेणियों की आवश्यकता है, उसी प्रकार शरीर में मेरूदण्ड है। योगी को अपने शरीर की पूर्ण जानकारी होनी होनी चाहिये। शरीर-विज्ञान-शास्त्र (Anatomy) और योगी का शरीर-विज्ञान अलग-अलग नहीं है। साधना करते हुए शरीर को समझने के लिए विज्ञान का सहारा लेना लाभदायी है। मानव शरीर ब्रह्माण्ड का छोटा रूप है। यह देशकाल और परिस्थितियों से प्रभावित होता है।

अपनी अमृत किरणों से चंद्रमा संसार में जीवनदायी रस की वर्षा करता है। मेरूदण्ड के ऊपरी सिरे पर चंद्रमा की स्थिति मानी गई है, जिसे सोलह कलाओं अर्थात् रूपों या क्रियाओं वाला माना जाता है। यह चंद्रमा दिन-रात पीयूष-स्त्रवण करता है। चंद्रमा से निकलता हुआ जीवनदायी रस दो भागों में बंट जाता है। इड़ा नाड़ी में जाने वाल रस शरीर को लाभ देता है। यह इड़ा अथवा अमृत वाहिनी-नाड़ी, जो

चन्द्रकिरण भी कही गई है, शरीर के बायें भाग में स्थित है। चन्द्र रस का शेषांश तालूमूल में छिद्र से बहकर मध्यमार्ग से अर्थात् भोजन और वायु-नली से आमाशय में चला जाता है।

मेरूदण्ड के मूल में अर्थात् नीचे के सिरे पर द्वादश कलायुक्त सूर्य स्थित है। मेरूदण्ड के दाहिने भाग में स्थित पिंगला नाड़ी द्वारा सम्पूर्ण शरीर को ताप अथवा गर्मी सूर्य पहुंचाता रहता है। यही ताप प्रजापति कहा गया है, सूर्य ग्रस लेता है अर्थात् भस्म कर देता है। वायु मार्ग द्वारा सूर्य का ताप सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता है।

शरीर को सभी धातुओं और तत्वों को चन्द्ररस लाभ अथवा पोषण देता है और वायु से भरे इस शरीर में सूर्य का ताप रसों का पाक करता रहता है। सूर्य और चन्द्र शक्ति है और पिंगला के माध्यम से क्रियाशील रहता है। वह सृष्टि और संहार दोनों का कारक है। समय आने पर यह सूर्य शांत हो जाता है और शरीर भी नष्ट हो जाता है।

शरीर में छोटी बड़ी साढ़े तीन लाख नाड़ियां हैं। जिनमें चौदह प्रमुख हैं :– सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, गान्धारी, हस्ति, जिह्विका, कुहू, सरस्वती, पूषा, शस्निी, पयखिनी, वारूणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी, तथा यशस्विनी। इन में तीन नाड़ियां – इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना महत्वपूर्ण हैं। योगी के लिए सुषुम्ना नाड़ी अत्यधिक महत्व की है, प्रिय है और अनन्त सुखदायिनी है। साधक की अन्य सभी नाड़ियां सुषुम्ना के अधीन हो जाती है। साधारण व्यक्तियों में सुषुम्ना सोई रहती है, अन्य नाड़ियां कार्य करती है। सुषुम्ना का मुख नीचे की ओर है। इसका स्वरूप कमलनाभ के रेशे के समान है और मेरूदण्ड के सहारे यह स्थित है। चन्द्रमा एवं सूर्य की क्रियाओं का एकीकरण यह नाड़ी कर सकती है। सुषुम्ना के मध्य में चित्रानाड़ी स्थित है, जो योगियों को सर्वाधिक प्रिय है। यह चित्रा नाड़ी सूक्ष्मतरंगों के रूप में ब्रह्मरंध्र तक जाती है। अनुभव में आने पर यह शुद्ध उज्वल प्रकाश-स्वरूपा नाड़ी पांच वर्णों में प्रकाशित होती है। इसे दिव्यमार्ग कहा गया है। यह अमृतस्वरूपा है। योगी ध्यान एवं अन्य साधनाओं द्वारा अपने सभी विकारों को नष्ट करता हुआ चित्रा नाड़ी के माध्यम से अमृत-तत्व प्राप्त करता है।

गुदा-द्वार से ३ सेन्टीमीटर ऊपर और जननेन्द्रिय से ३ सेन्टीमीटर

दूर ५ सेन्टीमीटर विस्तार वाला मूलाधार ही कंदके आकार का चक्र है। मूलाधार कमल में कर्णिका के समान त्रिकोणाकार योनि स्थित है। यह योनिस्थान तन्त्र-शास्त्रों में रहस्यमय माना गया है। इसी त्रिकोंणाकार योनि स्थान में विद्युत रेल के समान रूप वाली आठ स्थानों से मुड़ी हुई कुण्डलिनी-शक्ति सुषुम्ना के मुख को आच्छादित किये हुये स्थित है। इस कुण्डलिनी को सृष्टि लीला चलाने वाली महामायों के समान महत्वपूर्ण वर्णित किया गया है। इसे सब देवताओं द्वारा पूजित-वाग् देवी कहा गया है। बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती एवं परा नाम से वर्णित चार वाणियों की अधिष्ठात्री वागदेवी यही है। मुखरित वाणी वैखरी हैं, मध्यमा वाणी कण्ठ में स्थित है, पश्यन्ती का स्थान हृदय है। जिससे सभी वाणियां उत्पन्न होती हैं, वह परावाणी है और मूलाधार से उत्पन्न है।

शरीर के वाम भाग में मेरूदण्ड के सहारे इड़ा नाड़ी स्थित है, जो बायें नासापुट तक जाती है। पिंगला नाड़ी मेरूदण्ड के दक्षिण में स्थित है और सुषुम्ना से मिली हुई दाहिने नासापुट तक जाती है। इड़ा पिंगला के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है। शरीर में छः स्थानों पर छः चक्र अथवा छः कमल सिद्धा योगियों ने माने हैं। पांच चक्र सुषुम्ना में स्थित हैं। चक्रों के अनेक नाम योगियों ने माने हैं। पांच चक्र के अनेक नाम योगियों ने माने है।चक्रो का विशद वर्णन संदर्भ-सहित इस ग्रंथ मे उचित स्थान पर आगे किया गया है।

अन्य सभी नाड़ियां योग-साधना के लिये गौण हैं। मूलाधार चक्र से आरम्भ होकर अन्य नाड़ियां जिह्वा, आंखों, कानों, उंगलियों, पांव, हाथ, पेट आदि अनेक अंगो में जाती है। नाड़ियां सम्पूर्ण शरीर में फैली हैं और अंग विशेष की आवश्यकतानुसार आज्ञा, रस तथा वायु का वहन करती हैं। विभिन्न रूपों वाली साढ़े तीन लाख नाड़ियां शरीर के सभी भागों में फैली हुई हैं।

मूलाधार चक्र में द्वादश कला युक्त सूर्य स्थित है। सूर्य मण्डल में अग्नि स्थित है, जो पाचन क्रिया भी करता है। मूलाधार के क्षेत्र को वस्तिदेश भी कहा गया है। अग्नि को वैश्वानर कहा गया है, जिसके सम्बन्ध में महेश्वर कहते हैं कि प्रकाश रेखा के रूप वाला वैश्वानर अग्नि ही मेरा तेज-अंश है। यह अग्नि मन्द होने पर अनेक रोगों को उत्पन्न कर देता है। वैश्वानर अग्नि को बुद्धिमान प्रज्वलित करता रहे, भोजन के सिद्धान्तों को समझे और वैश्वानर अग्नि में उचित अन्नों की आहुति देता रहे।

ब्रह्मांड का प्रतिनिधित्व करने वाले मानव शरीर के वर्णन का अन्त नहीं है, आवश्यकतानुसार अन्य अध्यायों में भी किया गया है। शरीर का पूर्ण वर्णन असम्भव है। शास्त्रों में शरीर को ब्रह्मांड का प्रतिनिधि मानकर बहुत से स्थान, देश, प्रदेश, समुद्र, नदियां, पहाड़, दैवी शक्तियां, देवी एवं देवताओं के स्थान विभिन्न अंगो में माने हैं। जैसे सम्पूर्ण ब्रह्मांड में प्राण वायु के कारण क्रिया होती है, उसी प्रकार अनादि वासनामाला एवं अनन्त कर्म श्रृंखला से अलंकृत प्राण शरीर में निवास करता है और संस्कार-अनुसार अनेक कर्म प्राण वायु के आधार से करता रहता हैं।

## गुरु

गुरु ही ब्रह्म के समान कहे गये है क्योंकि गुरु ब्रह्मैक्य करा देते हैं। आजकल योग्य गुरु प्राप्त नहीं होते। सम्यक् ज्ञान कराने वाला ही गुरु है, इसीलिये सभी को गुरु बनने का अधिकार नहीं है। साधरणतया हमें शिक्षा देने वाले बहुत लोग हो सकते हैं, जिनका चेतना स्तर हम से अधिक विकसित हो।

गुरु की खोज एवं गुरु पाने की लालसा ने समाज में अनेक विकृतियां उत्पन्न कर दीं। इस ग्रन्थ को ही गुरु मानकर साधना आरम्भ करना उत्तम होगा। शास्त्र बताते हैं कि उचित समय पर गुरु स्वयं प्राप्त हो जाता है, खोजने से नहीं मिलता। भगवान् शिव द्वारा माता पार्वती के माध्यम से यह ग्रन्थ साधकों के लिए उपदेश रूप में प्राप्त हुआ है।

ग्रन्थ से ही गुरु भी सीखता है। साधक सचेत रहे कि वह हठी और अधीर न बने। किसी भी क्रिया में स्वयं को थकाये नहीं। क्रियायें उसी समय तक करे जब तक सरल सहज रूप से सुख प्राप्त होता रहे।

यदि उचित गुरु मिले तो मन, वचन, क्रम से शिष्य उनकी सेवा करे। माता-पिता और देवता तीनों स्थानो की पूर्ति, गुरु करता है। प्रतिदिन गुरु की तीन प्रदक्षिणायें करें, साष्टांग प्रणाम करे, दाहिने हाथ से चरण स्पर्श करें। सम्यक् प्रयत्न और दृढ़ श्रद्धा ही सिद्धि शीघ्र प्राप्त कराती हैं। बहुत लोगों का संग और प्रपंच करना, कर्म न करना और कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास न करना, आवश्यकता से अधिक लोगों के साथ रहना, गुरु पूजा न करना इत्यादि साधक की प्रगति में बाधक होतें

है।

असत्य व्यवहार और असत्य भाषण को जो व्यक्ति जीवनोपयोगी समझता हो, कठोर वाणी का जो त्याग न कर सके, देशकाल परिस्थिति तथा शास्त्र मर्यादा की सीमाओं के अन्दर रहते हुये जो गुरु को संतोष न दे सके, उसे साधना नहीं करनी चाहिये। व्यर्थ परिश्रम और दुष्परिणाम ही उसके हाथ लगेंगे। विद्या, ज्ञान क्रिया आदि की साधना द्वारा इसी जीवन काल में सुफल मिलने चाहिये।

## सफलता के लक्षण

किसी विद्या के अभ्यास अथवा साधना के फल, हमें अपने जीवन में दिखाई पड़ना चाहिये। साधना का ...्य सिद्धि है। सिद्धि के लिये प्रथम आवश्यक लक्षण है विश्वास। दूस... प्रत्येक क्रिया में स्वाभाविक श्रद्धा। श्रद्धा जड़ नहीं है, वह विवेकपूण होनी चाहिये। तीसरा लक्षण गुरु-पूजन है। साधक जब अपनी साधना में आगे बढ़ता है, उसमें चौथा लक्षण समत्व-भाव अथवा समदृष्टि का उदय होता है। पहले कहे गये तीन लक्षण साधक के वश में है। साधना की सफलता अथवा सिद्धि की उपलब्धि समत्व दृष्टि से आरम्भ होती है, जो चित्त का गुण है। पाँचवा लक्षण इन्द्रिय-निग्रह है, जो सहज स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो। हठ एवं अविवेकपूर्ण कर्मो द्वारा इन्द्रिय-निग्रह हानिकारक है। निग्रह होता है, किया नहीं जाता। सत् साधना का छठवां लक्षण मिताहार है। सिद्धि प्राप्ति के लिए सातवां कोई लक्षण नहीं है।

योग साधना की सुन्दर आधारशिला है कि योग्य एवं श्रेष्ट गुरु व्यक्ति अथवा ग्रंथ से साधना पद्धति को भली भांति जानना चाहिये। मनन के बाद जब बुद्धि निश्चयात्मिका हो जाय तब विधि अनुसार आलस्यहीन होकर साधना करे।

## प्राणायाम

प्राणावायु पर सृष्टि रचना आधारित है। साधक को शरीर एवं चित्त की वृतियों को श्रेष्ठ गति मे प्रेरित करने के लिये प्राणायाम का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। प्राणायाम की शक्ति का अनुभव कोई भी व्यक्ति कर सकता है। क्रोधित अथवा चिंतिंत होने पर व्यक्ति रीढ़ सीधी करके बैठ जाये। आसन लगाना जानता हो तो पद्मासन लगाकर

बैठ जायें। कम से कम सोलह कुंभक करे। निश्चित रूप से शांति का अनुभव होगा। प्राणायाम की साधना आध्यात्मिक और भौतिक सभी प्रकार की उपलब्धियों के लिये महान उपयोगी क्रिया है।

योगी पद्मासन में प्राणायाम का अभ्यास करे। शरीर को सीधा रखते हुये हाथ जोड़ कर गुरु को अपने चित्त में ही प्रणाम करे क्षेत्रपाल अथवा स्थानीय शक्तियों को प्रणाम करे और सृष्टि की अधिष्ठात्री देवी शक्ति मां को प्रणाम करे। दाहिने हाथ के अंगूठे से दाहिने नासापुट अर्थात् पिंगला को दबाये। बायें नासापुट से अर्थात् इड़ा से वायु को शनैः शनैः शरीर में पूर्णरूपेण भर ले। बायें नासापुट को भी दबा ले और यथा शक्ति वायु को शरीर में रोके रहे। दाहिने नासापुट से शनैः शनैः वायु को निकाले। वेग से वायु को न नकाले। यह एक प्राणायाम कहा जायेगा। दूसरे प्राणायाम में दाहिने नासापुट से वायु को शनैः शनैः निकाले। वायु को शरीर में भरना पूरक कहा जाता है, रोकना कुम्भक और वायु को निकालना रेचक कहा जाता है। इस प्रकार एक समय में कम से कम २० प्राणायाम का अभ्यास करे। ध्यान रहे कि थकावट और अकुलाहट न हो। आकुलता मिटाने के लिये थोड़ी देर प्राणायाम की क्रिया को रोक कर दो चार लम्बी सांसे ले ले। स्थिरता प्राप्त होने पर तब प्राणयाम करे। यह आवयक नहीं है कि २० प्राणयाम एक ही श्रृंखला में करे। लेकिन यह आवयकता है कि जब प्राणायाम करने बैठे, कम से कम २० बार करे।

अनेक प्रकार के प्राणायाम होते हैं। सिद्धि, शांति, आरोग्य इत्यादि प्राप्त करने के लिये उपर्युक्त पद्धति समुचित हैं। इसी प्राणायाम पद्धति से सब सिद्धियां प्राप्त हो सकती है। प्राणायाम के साथ जप करने से महान लाभ भी शीघ्र प्राप्त होते हैं क्योंकि प्राणायाम मुख्यतया शारीरिक क्रिया है और जप प्राधानतः मानसिक क्रिया है। सम्यक् प्रगति के लिए, शारीरिक एवं मानसिक सन्तुलन आवश्यक है, अन्यथा साधना एकांगी रहेगी।

साधना के लिए बैठने पर चिन्ता-मुक्त अवस्था होनी चाहिये। यदि व्यग्रता हो तो साधना प्रारम्भ करने से पहले, कुछ काल के लिए आंख मूंद कर बैठा रहे। प्रातःकाल, मध्यान्ह, संध्याकाल एवं अर्धरात्रि साधना

के लिए अत्यन्त उपयुक्त चार अवसर है। दिनचर्या के कारण समय में कुछ हेर फेर करने में हानि नहीं होगी। तीन महिने तक यदि कोई व्यक्ति आलस्यहीन होकर चारों समय प्राणायाम करे तो निश्चित रूप से शरीर की सभी नाड़ियां शुद्ध हो जायेगीं। नाड़ि-शुद्धि के पश्चात् योगी सत्य अथवा तत्व का आभास पाने लगता है। भय नष्ट होने लगता है, अशुद्ध प्रवृतियों से मुक्त होने लगता है, पाप कर्मों में रूचि नहीं रह जाती, चित्त में विकास के लक्षण का उदय होने लगता है।

शरीर में साधना के कारण उत्पन्न होने वाले चिन्हों को संक्षेप में बताता हूं। शरीर सुगठित होगा, सुंगध उत्पन्न होगी, श्वास सधकर धीमी हो जायेगी। शरीर के अन्दर होने वाली क्रियाओं की विशेष जानकारी प्राप्त होगी, जैसे अस्वस्थता क्यों हुई, आलस्य क्यों आया, उत्साह क्यों कम हुआ, थकान क्यों हुई, चित्त चंचल क्यों हुआ इत्यादि। दोषों का कारण जान लेने पर उपचार आसान होता है। प्राणायाम की साधना करते रहने पर इस प्रकार की विशेष जानकारी जब होने लगे या कारण समझ मे आने लगे तो जान लेना चाहिये कि योग-साधना के लिए शरीर तैयार हो गया। प्राणायाम की साधना से प्राप्त होने वाले इस प्रारम्भिक लक्षणों के उदय को योग में आरम्भ-अवस्था कहा जाता है। प्राणायाम जब अधिक परिपक्व होने लगेगा तो वायु पर सिद्धि प्राप्त होगी और सभी प्रकार के दुःख तथा पाप उत्पन्न करने वाले संस्कार सहज ही नष्ट हो जायेंगें। इस आरम्भ अवस्था में पहुंचने पर अनुपयुक्त कर्मो में रूचि नहीं होगी। पाचक अग्नि बढ़ेगी, शरीर के सभी अंग सुन्दर एवं पुष्ट होगें, बल तथा उत्साह बढ़ेगा और हृदय में आनन्द छलकता रहेगा। सभी योग साधनाओं में चार अवस्थाएं होती हैं :-१. आरम्भ, २. घट, ३. परिचय और ४. निष्पत्ति।

### आरम्भ अवस्था

ऊपर लिखे सभी लक्षण आरम्भ के हैं।

### घट अवस्था

प्राण, अपान, नाद और बिंदु, जीवात्मा तथा परमात्मा का जब एकीकरण होता है तब साधना की घट-अवस्था आती है।

### परिचय-अवस्था

इड़ा और पिंगला को छोड़कर वायु सुषुम्ना में प्रवाहित है। कुंडलिनी जागृत हो, षटचक्रों का भेदन हो जाय तब यह अवस्था आती है। सभी वायुओं का एकीकरण हो जाता है। साधक भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञाता हो जाता है। प्रणव (ओम्) के जप से सभी प्रकार के कर्म समूह नष्ट हो जाते हैं।

### निष्पत्ति-अवस्था

समाधि-अवस्था में स्थिर होकर सभी कर्म योगी करता रहे, यही चरम सिद्धि है। प्रारब्धा संचित और क्रियमाण रूपी कर्म-त्रिकूट का क्षय कर दे और अमृतावस्था में स्थिर हो जाये। सहज समाधि की अवस्था निष्पत्ति है।

### साधना में वाधक एवं सहायक कारण

योग साधना में वाधक तत्वों को जानना आवश्यक है। योगी प्रयत्न पूर्वक इन से बचे यदि वह संसार के दुःखो से बचना चाहता है। खट्टा, रूखा, कडुवा, अधिक नमकीन, चटपटा भोजन न करे, सरसों का तेल न खायें। अधिक भ्रमण हानिकर है, प्रातः काल का स्नान यदि कष्टदायी हो न करे लेकिन अपनी क्रियायें करता रहे। अधिक तेल का उपयोग न करें। अधिक गर्मी और अधिक सर्दी से बचे। चोरी से किये जाने वाले क्रम न करे। द्वेष से बचे। अंहकार से बराबर सचेत रहे। सरल आचरण एवं मृदु भाषण करे। अनावश्यक एवं कष्टदायी उपवास न करे। असत्य से यथाशक्ति बचे और किसी प्राणी को पीड़ा पहुँचाने का भाव न रखे। स्त्री-सहवास अत्यधिक संयमित हो। अग्नि न तापे। व्यर्थ बकवास तथा गप्पों से बचे। किसी की भलाई या बुराई की चर्चा में राग न करे, रस न ले। अधिक भोजन कभी न करे कि भारीपन जान पड़े।

इन उपायों को व्यवहार में लाने वाला योगी शीध्र ही कौशल प्राप्त कर लेता है। क्रियायें सिद्ध होनें लगती है और प्रकृति की शक्तियों पर अधिकार प्रांप्त होने लगता है। इन आदेशों का पालन सिद्ध पुरूषों के लिए भी महत्वपूर्ण है, उन्हे विना अपनायें, सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

दूध, घी, मिठाई, बिना चूने का पान, स्निग्ध पदार्थ, खीर, हल्के और कम वस्त्र, सिद्धांत-श्रवण अथवा अध्ययन, गृहस्थाश्रम में रहते हुये भी वैराग्य-साधना अर्थात् मोह और राग पर नियंत्रण, हरि नाम संकीर्तन, सुन्दर संगीत का श्रवण एवं गायन, मनन, क्षमाभाव, तपस्यामय जीवन अर्थात् नियमित कार्यक्रम, संकोचपूर्ण व्यवहार, श्रेष्ठ जनों की सेवा इत्यादि नियमों का पालन योगी के लिये आवश्यक है।

वायु जब दाहिने नासापुट से चल रही हो, अर्थात सूर्य नाड़ी या पिंगला से चल रही हो तब भोजन करना चाहिये। सोते समय बायां स्वर चलना अधिक लाभदायी है। भोजन के तत्काल बाद या बिल्कुल खाली पेट अभ्यास नहीं करना चाहिये।

अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में घी मिली खीर बहुधा खानी चाहिये। अभ्यास में जब स्थिरता आने लगे तब घी दूध और खीर की मात्रा कम कर दे। योगी के लिये आवश्यक है कि चिड़िया की तरह, थोड़ा थोड़ा भोजन दिन में कई बार करे। प्राणायाम का अभ्यास चार कालों में अवश्य करे। श्यामा तुलसी, आंवला और बेल का उपयोग बहुत लाभदायी है।

कुम्भक यथाशक्ति करे, हठ न करे। शनैः शनैः कुम्भक सिद्ध हो जायेगा। साधनाकाल मे आने वाले पसीने को पोछ दे या मल दे। शरीर पर पसीना सूखने से धातुयें नष्ट होती है। प्राणायाम के समय छाती में धड़कन बढ़ेगी, चिन्ता न करे। धड़कन शान्त कर ले और अभ्यास फिर आरम्भ कर दे। कुम्भक की अवधि को अधिकाधिक बढ़ाता जाय।

इस प्रकार से साधना करते समय वायु-सिद्धि प्राप्त होती है। साधना यदि बढ़ती रही और नियमों का ठीक पालन होता रहा तो नींद बहुत कम हो जायेगी। शरीर पूर्णतया निरोग रहेगा। उत्साह बढ़ता रहेगा और शरीर कांन्ति बढ़ेगी। मूत्र बहुत कम होगा। दैन्य भाव नष्ट हो जायेगा, उदासीनता नहीं रहेगी। यथार्थ का दर्शन होने लगेगा। पसीना कम आयेगा। कीटाणुओं से उत्पन्न होने वाले रोग नहीं होगें। कफ, बात, पित्त से उत्पन्न होने वाले कष्ट नहीं होगें।

## भूचरी सिद्धि

योगी यदि साधना करता रहे और सूक्ष्म भोजन करता रहे तो भूचरी सिद्धि प्राप्त होती है। इस सिद्धि के बाद हिंसक पशुओं से भय नहीं रहता। मार (ताड़ना) से चोट नहीं लगती। साधनो की राह में कठिन अड़चन आती है परन्तु योगी धैर्य पूर्वक इनका सामना करता रहे। यदि साधक जितेन्द्रिय तथा एकान्त से बने, प्रणव (ओम्) का दीर्घ जप करे तो पूर्व तथा इस जन्म के कर्मो से उत्पन्न हुये सम्पूर्ण पाप और पुण्य रूपी फल अर्थात् संस्कार नष्ट हो जाते हैं, बन्धन का कारण नहीं बनते। योगी एक **समय** में केवल १८ प्राणायाम करके चिन्ता, कष्ट, उद्विग्नता, क्रोध, काम-विकार आदि होने पर भी विचलित नहीं हो सकता।

इस प्रकार साधना करते हुए, योगी, अधोगामी विचारों, कर्मों अथवा पापमय विचारों से छूटने के बाद अपने पुण्यमय कर्मों के बन्धनों से भी धीरे धीरे छुटकारा पा लेता है। प्राणायाम साधना द्वारा शनैः शनैः आठों प्रकार के ऐश्वर्य (अणिमा, लधिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व, कामावसायिता) योगी प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार की सिद्धियां अथवा चमत्कार प्राप्त कर, योगी ऐश्वर्यशाली बनता है। जब कुम्भक करते करते योगी प्राण अपान को, नाद और बिन्दु को, जीवात्मा परमात्मा को एकाकार कर देता है, तब वह आकाशगामी हो जाता है। संसार चक्र में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वह प्राप्त न कर सके। इस प्रकार की घुट अवस्था तब प्राप्त होती है, जब योगी कुम्भक करने का अभ्यास कर लेता है।

प्रत्याहार स्वयं सिद्ध हो जाता है। योगी जो कुछ जानना चाहता है, उस का अन्तरमन उसे दिखा, बता देता है। इन्द्रियों पर उसे पूर्ण विजय अथवा अधिकार प्राप्त हो जाता है। वह समदृष्टि प्राप्त करता है।

जब योगी ८ दण्ड तक (३ घंटे १२ मिनट तक), कुम्भक करने लगता है तो अपने अंगूठे के सहारे ही रूई के समान टिका रह सकता है।

## परिचय अवस्था

इस अवस्था में शरीर में स्थित वायु इड़ा और पिंगला को छोड़ कर सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है और सुषुम्ना द्वारा सहस्त्रार तक चला जाता है। सभी चक्र अथवा कमलों का भेदन हो जाता है। यह सब अभ्यास से सम्भव है। सुषुम्ना में वायु का पूर्ण प्रवाह होते ही, कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है। तीनों कालों में हुए अथवा होने वाले कर्मो को योगी देखने लगता है अर्थात् त्रिकालदर्शी हो जाता है। कर्म समूह को, (ओम्) प्रणव का जप करते हुए योगी पूर्णतया नष्ट कर लेता है।

ऐसी अवस्था प्राप्त करने के पश्चात्, इच्छित कर्मो के लिये ही योगी शरीर मे स्थित रह जाता है। इस अवस्था में पहुचंने पर योगी निम्न-लिखित ५ स्थानों में क्रमशः धारणा करें ताकि पंच महाभूतों से उत्पन्न होने वाले भय अथवा बाधायें दूर हो जायें। २ घंटे तक मूलाधार चक्र में धारणा करे। इससे पृथ्वीतत्व पर पूर्ण विजय प्राप्त होगी। २ घंटे स्वाधिष्ठान चक्र में धारणा करे, इससे जल तत्व पर अधिकार हो जायेगा। २ घंटे तक नाभि अर्थात् मणिपुर चक्र में ध्यान करे। इससे अग्नि तत्त्व पर विजय होगी। हृदय स्थान में अनाहत चक्र है, २ घंटे तक इसमें धारणा करने पर वायु तत्व पर विजय प्राप्त होती है। इसके बाद कण्ठ में स्थित विशुद्ध-चक्र पर २ घंटे धारणा करने से आकाश तत्व पर विजय मिलती है। इस प्रकार संसार के सभी तत्व, योगी जीत लेता है। पंच-तत्वों की उपाधि से ऊपर उठा हुआ योगी इनसे प्रभावित नहीं होता। मृत्यु पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है। सैकड़ो ब्रह्मा के काल तक भी ऐसा योगी नष्ट नहीं हो सकता। इस अभ्यास क्रम से योग की पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है। अनादि कर्मो के बीज नष्ट हो जाते हैं। इसी क्रम में समाधि प्राप्त होने लगती है।

प्राणायाम का अभ्यास बढ़ने पर समाधि प्राप्त होने लगती है। समाधि पर जब अधिकार प्राप्त होता है, तब योगी पूर्णतया शांत धैर्यवान एवं जीवन मुक्त हो जाता है। अभ्यास करने वाला योगी प्राण वायु को अपने वश में कर लेता है तब क्रिया शक्ति और कर्मठता बहुत बढ़ जाती है। शरीर में स्थित सभी चक्र विजित हो जाते हैं और साधक अनन्त ज्ञान शक्ति के स्त्रोत से सम्बन्धित हो जाता है

### प्राणायाम के अन्य भेद :

पूरक, कुम्भक, रेचक प्राणायाम पूर्ण प्रक्रिया है। विशिष्ट लाभ पाने के लिये, प्राणायाम के अन्य तरीके यहां वर्णित हैं। यह प्राणायाम विशिष्ट रोगों, क्लेशों, को दूर करने के लिये हैं। संसारयात्रा में उत्पन्न होने वाले रोगों की शान्ति भी आवश्यक है।

१. जिव्हा को पीछे लौटाकर तालुमूल में टिका दे, और नाक से श्वास ग्रहण करता रहे तो अनेक रोग शान्त हो जाते हैं। यह अभ्यास साधारण दिनचर्या निभाते हुये किया जा सकता है। धीरे-धीरे सिद्ध हो जायेगा। इस अभ्यास से, हठ योग की महत्वपूर्ण खेचरी मुद्रा सिद्ध करने में सहायक होती है।

२. कौवे की चोंच की तरह जीभ को होठों के बाहर लम्बी गोल करते हुये निकाले। श्वास इसी गोल जीभ से ले। सख्त गर्मी में शीतलता मिलेगी। यदि प्राण और अपान वायु को खींचकर मिला देने की प्रक्रिया भी करें, तो इस प्राणायाम द्वारा, शरीर का कोई भी रोग दूर किया जा सकता है। शारीरिक कष्टों से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार रस युक्त वायु को पीकर, श्रम, जलन और ज्वर को तत्काल शान्त किया जा सकता है। जिव्हा को उल्टाकर, चन्द्रमा से टपकते हुये अमृत रस को ग्रहण करने का अभ्यास होने पर, एक महीने में सभी प्रकार के रोगों से मुक्ति हो जायेगी। मृत्यु तुल्य कष्ट देने वाले रोग एवं मृत्यु को निकट लाने वाले रोग भी शांत हो जाते है।

३. राजदंतों को अच्छी तरह दबा कर, कुन्डलिनी का ध्यान करते हुये श्वास लेने का अभ्यास जो योगी बना लेता है, उसे छः महीने से वाणी की सिद्धि हो जाती है। वाणी-सिद्धि का अर्थ है कि अपने विचार प्रभावशाली पद्धति में व्यक्त कर सके, वाणी मधुर गंभीर और वजनदार हो जाय। अब स्वर नाभिदेश से उत्पन्न होगें। कुंडलिनी को वाग्देवी अर्थात वाचा-शक्ति उत्पन्न करने वाली माना गया है। राजदंत सामने के ऊपर नीचे चार दांत है जो बाल्यावस्था में पहले निकलते हैं।

४. कौवे की चोंच की तरह होठों को बनाकर प्रातः सांय कुछ समय

तक वायु पीने का अभ्यास करे तो क्षय रोग शान्त हो जायेगा। वायु पीते समय कुंडलिनी पर ध्यान करे। होठों की बनी चोंच से वायु पीवे, वायु रेचन नाक से ही करे। साधारण व्यक्तियों के लिये तो सम्भव नहीं लेकिन जो एकान्त स्थान में साधना करता है, वह यदि कौवे की चोंच बनाकर दिन रात वायु पीने का अभ्यास बना ले तो शीघ्र ही दूर-दृष्टि, दूर-दर्शन एवं सूक्ष्म दृष्टि वाला हो जाता है।

५. दाँतो पर दाँत दबाकर, जिव्हा को पीछे लौटाकर, धीरे-धीरे श्वास लेने का अभ्यास जो कर लेता है, उसकी मेघा शक्ति बढ़ जाती है। शरीर में उत्पन्न होने वाले मृत्यु तुल्य कष्ट भी शांत हो जाते हैं। छः महिने के अभ्यास के पश्चात् योगी इस क्रिया में सिद्ध हो जाता है। इस सिद्धि से अधोगामी विचारों पर वश हो जाती है। अनुवयुक्त संस्कार नष्ट हो जाते हैं, रोगभय से मुक्त हो जाता है। यदि एक वर्ष तक अभ्यास करे तो भूत-पिशाचों पर भैरवी नामक शक्ति प्राप्त हो जाती है। अणिमा आदि सिद्धियां आने लगती है।

जिव्हा को उलट कर यदि थोड़ी देर भी श्वास (मुंह बंद रखते हुये, नाक से) ले सके तो स्वास्थ्य लाभ होता है। यदि किसी प्रकार जीभ को पीछे की तरफ दबाकर ध्यान करने का अभ्यास कर ले तो अखण्ड स्वास्थ्य प्राप्त हो जायेगा। इस प्रकार का अभ्यास जब सिद्ध हो जाता है, व्यक्ति कामदेव के समान सुन्दर शरीर वाला हो जाता है। भूख, प्यास, नींद और विस्मृति पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। वासनायें परेशान नहीं करतीं।

इस प्रकार की कोई एक भी साधना करने वाला व्यक्ति बन्धन-मुक्त हो जाता है। पृथ्वी पर वह कहीं रहें, उसे मोह नहीं बांध सकता। पाप कर्मो में सकी रूचि न बन पायेगी न रह पायेगी। सिद्ध पुरूषों को स्वर्ग तुल्य सुख प्राप्त होते हैं। सुख उनके पीछे भागते हैं। व्यक्ति आनन्द मग्न रहता है और मुक्ति का अनुभव करता है। बन्धन पूर्ण-पुनर्जन्म उसे प्रभावित नहीं कर सकता।

## आसन

आसन अनेक हैं। चौरासी प्रकार के आसन प्रमुख हैं। प्रत्येक आसन में कुछ विशेषता है। आसानों के प्रभाव को समझकर अपनाना

चाहिये। प्रत्येक आसन का किसी अंग विशेष पर प्रभाव पड़ता है अपने ध्येय के अनुसार आसनों का चुनाव कर लेना चाहिये।

साधना के लिए उपयोगी चार आसनों का वर्णन करता हूं। बैठकर करने वाले आसनों में आसन तभी सिद्ध अथवा ठीक समझना चाहिये, - पांव और घुटने, पृथ्वी पर टिके रहें।

### १. सिद्ध आसन

गुदा-द्वार और जननेन्द्रिय के मध्य में सींवन हैं इसे योनिस्थान कहते है। दाहिनें अथवा बायें पैर की ऐड़ी से योनि-स्थान को दबा ले, दूसरे पैर की एड़ी जननेन्द्रिय के ऊपर पेडू में लगावे। दोनों पैर की उंगलियों को दूसरे पैर के बीच खींच ले या दबा ले। दृष्टि को आज्ञा चक्र में स्थिर करे। शरीर सीधा रहे निश्चल रहे, झूले नही। एकान्त शांत स्थान में शान्त चित्त और उद्वेगहीन होकर बैठे।

यह सिद्धासन, सिद्ध पुरूषों के लिये भी लाभदायी है। इस आसन के अभ्यास से साधना में शीध्र सफलता मिलती है। सिद्धासन का सदैव अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम-साधना में यह आसन विशेष लाभदायी है। इसके द्वारा संसार के द्वंद्वो से परे जाकर श्रेष्ठ गति प्राप्त होगी। इस आसन के समान रहस्यमय आसन अन्य नहीं है। इस आसन के अभ्यास से भी पापमयी गति रूकने लगती है अर्थात् पतन कारी कर्म और विचार संयमित होने लगते है।

### २. पद्मासन

दोनों पावों के तलवों को खीच कर आमने सामने की जांघ पर रख ले। ऐड़ी पेट में लग जाय। दोनों हाथों को नाभि के सामने मुड़े हुए पैरो पर टिकाकर सम्पुटित कर ले अर्थात् हथेलियों को ऊपर की ओर करके एक को दूसरे पर रख ले।

#### विशिष्ट क्रिया :

दृष्टि को नाक के अग्रभाग में स्थित करे। सामने के राजदंतों के पीछे जड़ में जीभ लगाये। ठोढ़ी को वक्षस्थल पर टिका दे। धीरे-धीरे

श्वास भरे। यथाशक्ति श्वास को रोके और शनैः शनैः निकाल दे। नाक और आंख बन्द करने की आवश्यकता नहीं है। रेचक बहुत धीरे-धीरे होना चाहिये। यह आसन अधिक अभ्यास करने पर सिद्ध होता है, लेकिन बहुत लाभप्रद है। धैर्यशाली और बुद्धिमान ही इस आसन का अधिकारी है। हठ एवं बल पूर्वक न करे और जब तक आराम से बैठ सके, तभी तक इस आसन में बैठे। थोड़ी देर में दोनो नासापुटों में श्वास का प्रवाह समान रूप से होने लगता है। सब प्रकार की साधनाओं में श्वास की यह सम- स्थिति उत्तम है। चित्त की अशांति मिटती है। संस्कारों पर अधिकार प्राप्त होता है। अवनति-कारक भाव संयमित हो जाते हैं।

### ३. पश्चिमोत्तान आसन

दोनों पैरों को आगे लम्बा कर दे। अंगूठे और एड़ी मिले रहें। दोनों हाथों से दोनों पैर या दोनों अंगूठे मजबूती से पकड़ ले। घुटनों पर सिर झुकाकर टिकायें।

यह आसन कुछ अभ्यास के पश्चात् आता है। मधुमेह (Diabetes), पीठ में दर्द, मंदाग्नि के दोष ठीक कर देता है। शरीर के तमाम अवसादों को हरण करता हुआ जठराग्नि को प्रदीप्त कर देता है। यदि इस श्रेष्ठ आसन का बुद्धिमान व्यक्ति प्रतिदिन अभ्यास करे तो शरीर के पिछले भागों में वायु का प्रभाव होता है और सुषुम्ना का द्वार शीघ्र खुलता है।

अभ्यास में लगे व्यक्ति को ही लाभ होता है। यदि नियमित अभ्यास न हो तो सिद्धि, सफलता, लाभ आदि नहीं प्राप्त होते। इस आसन में शरीर की वायु-शुद्धि अति शीघ्र होती है। शरीर में वायु संचार बढ़ने से अनेक कष्ट दूर होते हैं। बुद्धि प्रकाश-मय होती है। स्मरण शक्ति की अभिवृद्धि होती है।

आसनों को करते समय जप या ध्यान करते रहने से पाप वृत्तियां शीघ्र दूर हो जाती हैं। बुरी आदतें छूट जाती हैं।

### स्वस्तिकासन-सुखासन

दोनों पैरों को समेटकर एक पांव की उंगलियों को दूसरे पांव के घुटने के बीच फंसा दे। शरीर सीधा हो। अनेक प्रकार के प्राणायाम इस आसन में किये जा सकते हैं। इस आसान में साधक अधिक समय तक बैठ सकता है। यह आसन भी रहस्यमय कहा गया है, क्योंकि इस का प्रभाव चित्त पर अधिक होता है।

### विशिष्ट क्रिया

इस आसन के साथ प्राणायाम करते समय अधोभाग में स्थित इन्द्रियों को ऊपर खीचें। इसे मूल-बंध कहते है। पूरक करते समय मूल बंध लगा ले। प्राणायाम अपनी गति पर चलता रहे अर्थात् पूरक कुम्भक रेचक क्रमशः, यथाशक्ति होते रहें और ध्यान को मूलाधार में योनिस्थान में लगावे। इससे वासनायें समाप्त होने लगती हैं। ध्यान करे कि ब्रह्मयोनि में अग्निशिखा के समान सूक्ष्म चैतन्य शक्ति को प्रतीक, श्रेष्ठ, परम, कला-सम्पन्न कुंडलिनी-शक्ति स्थित है। इसमें करोड़ों सूर्य का तेज और करोड़ो चंद्रमाओं की शीतलता है। इस कुंडलिनी शक्ति को आत्मा का स्वरूप मानकर ध्यान करे। ब्रह्म-मार्ग अर्थात् सुषुम्ना से होकर त्रिकूट (मूलाधार, अनांहत ओर आज्ञाचक्र) को पार पर कुंडलिनी ऊपर जाती है और श्वेत तथा लाल रंग की तेजो मय अमृतमयी धारा को पीने लगती है। उसका विश्राम स्थान अमृत है जो सहस्त्रार में चन्द्रमा का साथी है। यह परमानन्द स्वरूपिणी है। यह कुंडलिनी शक्ति दिव्य अमृत पीकर शांत हो जाती है। उसी रस को पीने के लिये इसे योग-साधना द्वारा बार बार ऊपर ले जाया जाता है। अन्य कोई मार्ग अभी तक ज्ञात नहीं है। इस कुंडलिनी शक्ति को बार-बार अमृत पिलाने के कारण शरीर में ही स्थित कालाग्नि अर्थात् विनाशक तत्व शांत जो ज़ाते हैं। तंत्र शास्त्र की यही चरम उपलब्धि है।

### योनिमुद्रा

इस ग्रंथ में योनिमुद्रा के महत्व का विशद् वर्णन किया गया है। किसी आसन में बैठ जायं, दोनो अंगूठो से दोनों कान के छेदों को बन्द करे। दोनों आंखों को दोनों तर्जनियों से बन्द करे, दोनों नासापुटों को

दोनों मध्यमा उंगलियों से दबा ले, अनामिका और कनिष्ठिका उंगलियों से दोनों होठों को ऊपर नीचे से दबा ले। श्वास चाहे तो नाक से ले अथवा काकी मुद्रा से खीचे। यथाशक्ति कुम्भक करे। वायु का रेचन बहुत धीरे-धीरे करे।

योनिमुद्रा रहस्यमय है। इसको सिद्ध करना आवश्यक है। कोई योग-सिद्धि ऐसी नहीं जो इसके द्वारा प्राप्त न हो जाय। इस के साथ मूलबंध करने से अधिक लाभ होता है। मंत्र चाहे दूषित हो, छिन्न हो, कीलित हो, स्तंभित अथवा दग्ध हो, शिखाहीन हो अथवा मलिन एवं तिरष्कृत हो, वे सभी सिद्ध हो जायेगें। व्यक्ति चाहे मोह में पड़ा हो अथवा भ्रमपूर्ण हो, एक एक सप्ताह तक मूर्छित रहते वाला हो, मंदबुद्धि हो, वृद्ध हो, प्रौढ़ हो अथवा नवयुवक हो, यह मुद्रा सबके लिये लाभदायी है। ऐसा व्यक्ति जो विरोधी भावों में फंस गया हो, निर्वीर्य हो गया हो, सत्वहीन हो चुका हो और चित्त को सैकड़ो धाराओं एवं भ्रान्तियों में विभाजित हो गया हो–अर्थात् दिशाहीन हो, वह भी इस योनिमुद्रा से लाभ उठा सकता है। शुभ अथवा अशुभ चाहे जैसा मंत्र जप हो, योनिमुद्रा के अभ्यास से सिद्ध हो जाता है। विधान के अनुसार अभ्यास करने पर यह योनिमुद्रा सभी सिद्धियों मोक्ष और ऐश्वर्य को देने वाली है।

इस मुद्रा को बहुत सूझ बूझ के साथ करना चाहिये। किसी शिक्षक से विधिपूर्वक सीखे तो अधिक लाभदायी है। इसका अभ्यास आजीवन करता रहे। इस मुद्रा साधना द्वारा व्यक्ति सभी प्रकार की साधानाओं का अधिकारी बन जाता है। इसका अभ्यास करने वाला पापमय वृत्तियों से छूट जाता है, चाहे उसने ब्रह्म हत्या अथवा गुरु हत्या की हो, सुरापन करने वाला हो, चोर हो या महा व्यभिचारी हो। जो मोक्ष के अभिलाषी हैं, उन्हें मुद्रा का अभ्यास नित्य करना चाहिये। योनि मुद्रा रहस्यमयी है। तंत्र शास्त्रो में इसे बहुत महत्व किया गया है।

### अभ्यास योग

इस संसार के सब लाभ एवं योग्यतायें अभ्यास पर आधारित हैं। सफलता अभ्यास से मिलती है, अभ्यास से योग सिद्ध होता है, मंत्र सिद्धि अभ्यास से होती है और प्राणों पर अधिकार अभ्यास से होता है। अन्य

कोई राह नहीं है। व्यक्ति अपने मृत्यु के समय को अभ्यास के द्वारा टाल सकता है, मृत्युजयी अर्थात् इच्छा-मृत्यु प्राप्त करने वाला हो सकता है। वाणी-सिद्धि, इच्छानुसार गमन, आदि योग-सिद्धियां अभ्यास से ही प्राप्त होती हैं। इन्हीं विभूतियों के कारण अभ्यास को भी योग की संज्ञा दी गई है।

### दस मुद्रायें अथवा बंध

अब उन मुद्राओं का वर्णन करता हूं जो योग साधना में महत्वपूर्ण हैं। अन्य मुद्रायें भी हैं, लेकिन उन्हे महत्वपूर्ण नहीं माना गया है। मुद्रायें रहस्यमयी कही गई हैं, क्योंकि साधक के शरीर और चित्त पर इनके प्रभाव की प्रक्रिया पूर्णतया समझाना असम्भव है। इनके अभ्यास से, कुंडलिनी शक्ति शीघ्र जागृत होती है और सभी चक्रों (कमलों) का भेदन हो जाता है। इस कुंडलिनी शक्ति (माहेश्वरी शक्ति) को भली भांति समझ लेना चाहिये। यह सुषुम्ना के मुख पर सोई हुई है। इसका सम्यक् वर्णन इस ग्रंथ में आगे किया गया है। महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, जालंधर-बंध, मूलबंध, विपरीत करणी, उड्डयान बंध वज्रौली और शक्ति चालन नामक दस मुद्रायें उत्तम हैं।

### महामुद्रा

यह तंत्रशास्त्र में लाभदायी क्रिया है। कपिल आदि सिद्धों ने इस मुद्रा का बड़ा महत्व बताया है। दाँये पैर की ऐड़ी को गुदा और मेढ्र-मूल (लिंगमूल) के बीच दबा ले। बायाँ पैर लम्बा फैलादे। दोनों हाथों से फैले हुये पांव को पकड़ ले, ठोढ़ी को हृदयदेश में दबा दे। शरीर के नव द्वारों को भीतर खीचनें का विचार करे अर्थात् मन को अन्तरमुखी करे। श्वास का पूरक, कुम्भक रेचक धीरे धीरे करे। थोड़ी देर, बांये पैर से अभ्यास करने के बाद बायें पैर से अभ्यास करे। थोड़े समय में दोनों नाड़ियां (इड़ा और पिंगला) सम हो जाती है अर्थात् दोनों नासपुटों से वायु समान रूप से चलने लगती है। इस अवस्था में चित्त शान्त हो जाता है। मंद बुद्धि मंद भाग्य साधक वर्ग को भी इस मुद्रा के कारण, साधना में गति मिलती है। योगाभ्यास काल में दोनों नासपुटों से सम-वायु चालन लाभदायी है।

इस क्रिया से शरीर का नाड़ी-जाल शुद्ध होने लगता है। नाड़ियों में प्रवाह-शक्ति बढ़ जाती है। महामुद्रा से ब्रह्मचार्य पालन में सहायता मिलती है। पातकीय संस्कारों का विनाश करने एवं कलुषित वृत्तियों की नष्ट करने में सहायता होती है। कुंडलिनी के लिए आवश्यक उष्णता उत्पन्न होती है ताकि चल पड़े, अर्थात् अपने परम-मार्ग ब्रह्मरंध्र की ओर अग्रसर हो। शरीर मलरहित शुद्ध कांतिमय हो जाता है। बुढ़ापे और मृत्यु के कष्ट नहीं होते। इच्छित साधनाओं की प्राप्ति होती है, सुख मिलता है, इन्द्रियां शान्त होती है।

अभ्यासरत योगी को ही कुछ प्राप्त होता है। यह इतनी लाभदायी मुद्रा है कि पंच महाभूतों पर अधिकार के बाद भी योगी इसका अभ्यास करता है।

### महाबंध

एक पांव फैलाये रहे, दूसरे की ऐड़ी समेटकर फैले पांव की जांघ पर रख ले। प्राणायाम की आवश्यता नहीं है। श्वास धीरे-धीरे चलावे। ठोढ़ी दबाकर हृदय पर लगा ले। गुदा और लिंग स्थानों को ऊप्र खीचें अर्थात् मूलबंध लगावे। इस क्रिया से अपान-वायु खिचंती है और प्राण वायु से मिलती है। पांव बदल-कर दोनों पांव से अभ्यास करे। इससे नाड़ी जाल शुद्ध और रस-प्रवाह उर्ध्वगामी हो जाता है। कुछ अभ्यास के पश्चात् वायु सुषुम्ना में प्रवेश करने लगती है। शरीर पुष्ट और अस्थिपंजर दृढ़ होता है। लगन के साथ इस बंध का अभ्यास करे।

### महाबेध

पांवो और ठोढ़ी की स्थिति महामुद्रा की तरह होती है। पेट में वायु भरकर पेट को आगे पीछे चलावे। इस प्रकार दवाब पड़ने पर सुषुम्ना कुछ समय बाद खुलने लगती है, उसकी गांठे खुल जाती हैं। वायु पर अधिकार प्राप्त होता है। वायु के उपयोग पर ही जीवन और मरण की क्रियायें आधारित है। अभ्यास से चक्रों के देवता कम्पित होने लगते हैं अर्थात् देवताओं के आसन डोल जाते हैं। ऐसे समय में कुंडलिनी महाशक्ति कैलासगामिनी हो जाती है जहां शिव से अर्थात् कल्याण से शक्ति का मिलन हो जाता है। महामुद्रा, महाबंध और महाबेध तीनों

का इसी क्रम से अभ्यास करना चाहिये। एक अभ्यास लाभदायी नहीं होता। तीनों क्रियायें क्रमशः एक ही समय में होनी चाहिये।

प्राणायाम के समान चारों कालों में इन तीन मुद्राओं का भी अभ्यास करे। अधिक समय नहीं लगता, लाभ अधिक होता है। छः महिनों तक उचित अभ्यास करने पर मृत्यु की तरफ ले जाने वाली धाराओं पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। सिद्ध पुरूष इन क्रियाओं का महत्व जानते हैं और निरतंर करते रहते हैं।

## खेचरी मुद्रा

इसका अभ्यास लगन से करना चाहिये। प्राणायाम के वर्णन में जीभ को पीछे लौटाकर तालुमूल में लगाने की क्रिया, इस मुद्रा का प्रारम्भिक अभ्यास है। किसी एक आसन में बैठकर, दृष्टि को भ्रूमध्य अथवा आज्ञाचक्र में स्थित करे अर्थात् आंखे मूंदकर ध्यान करे मानों आखों से आज्ञाचक्र में देख रहा हो। साधक का चित्त शांत हो, स्थान एकान्त हो। जिव्हा को अभ्यास द्वारा लंबिका के पीछे तालुमूल के छेद में प्रविष्ट करे। यही सुधाकूप है जिसमें जिह्वा का अधिकाधिक प्रवेश कराता जाय जब तक छिद्र के अन्तिम सिरे तक जीभ न पहुंच जाय। मक्खन लगाकर उंगलियों से दोहन करने से जिह्वा शीघ्र लम्बी हो जाती है। जीभ के नीचे डोरी काटने की जरूरत नहीं, यद्यपि अन्य ग्रंथो में यह डोरी काटने की क्रिया वर्णित है।

इस मुद्रा में योगी अमृतपान करने लगता है। जीवनदायी रस जो व्यर्थ जाता है उसका उपयोग होने लगता है। पोषक रसों को अमृत कहा गया है।

हठयोग के षटकर्मों में खेचरी को सर्वाधिक लाभदायी बताया गया है। जिसकी खेचरी सिद्ध हो गई, वह योग-मार्ग में वेगपूर्वक बढ़ता है। शरीर पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। इस मुद्रा का अभ्यास यदि प्रतिदिन एक क्षण के लिए भी किया जाय तो दिव्य शरीर प्राप्त होता है। संस्कारों की शुद्धि होती है। इस जीवन में भोगों को दिव्यता के साथ भोगता हुआ योगी दिव्यकुल में जन्म पाता है। इस मुद्रा में स्थित होकर सौ वर्षो को एक क्षण के समान योगी बिता देते हैं।

**यह क्रिया मुख्यतः हठयोग की हैं। आलस्यहीन साधना अपेक्षित है। यह मुद्रा सुरपूजित कही गई है।**

### जालंधर-बंध

किसी आसन में बैठकर ठोढ़ी को हृदय में दबाकर टिका दे। पद्मासन में अथवा सिद्धासन में बैठकर अभ्यास अधिक लाभदायी है। इस बंध का अभ्यास करने से योनिमुद्रा भी शीघ्र सिद्ध हो जाती है। इस बंध के साथ, योनिमुद्रा और मूलबंध का अभ्यास आसानी से जोड़ा जा सकता है।

सहस्त्रार से टपकने वाले अमृत अर्थात् चन्द्ररस का पूर्ण उपयोग हो जाता है। शरीर को लाभ होता है। अन्यथा नाभिस्थान में स्थित अंग अग्नि इस रस को जलाती रहती है। इस बंध के द्वारा अमृत रस को शरीर के लाभहेतु उपयोग करने पर असुरों के समान शक्ति प्राप्त होती है। व्यक्ति संसार में अनेक सुख भोग कर सकता है। योगियों के लिए यह बंध बहुत लाभदायी माना गया है।

इस बंध का प्राणायाम के साथ अभ्यास करने पर पद्मासन में बैठा हुआ योगी आकाश और वायु तत्वों को शीघ्र जीत लेता है। पृथ्वी त्याग कर ऊपर उठ सकता है। शान्त एकान्त स्थान में इसका अभ्यास करना चाहिये।

### विपरीत-करणी ।शीर्षासन।

ललाट के शिरोभाग को जमीन मे लगावे। दोनों हाथों का गुंफन करके कपाल को सहारा देते हुये दोनों को जमीन पर टिकावे। मुलायम गद्दी अथवा कपड़े को लपेटकर ललाट के नीचे रख लें, नहीं तो दाग और गाठें बन जायेगीं। दोनों पांव को सीधा आकाश में उठा दे। आरम्भिक अवस्था में दीवार आदि के सहारे अभ्यास करें। शीर्षासान के पश्चात् थोड़ी देर लेटना चाहिये। शवासन का अभ्यास अधिक लाभदायी है।

इस क्रिया में हठ नहीं करना चाहिये। किसी अवस्था में अधिकता न करें और आंखो को यथासम्भव बन्द रखें।

शनैः शनैः अभ्यास बढ़ाते हुये यदि साधक ३ घंटे तक शीर्षासन

करने लगे तो मृत्युकारक तत्वों को पूर्णतया बस में कर लेगा। सहस्त्रार से झरने वाले अमृत रसों का पूर्ण लाभ शरीर को इस क्रिया से प्राप्त होता है। व्यक्ति सिद्धपुरूष हो जायेगा।

### उड्डयान बंध

पद्मासन में अथवा आधे खड़े होकर श्वास को ठेलकर बाहर निकाल दे। यथासम्भव पेट में वायु न रहे। नाभि-क्षेत्र को पीछे खींचकर पीठ में लगाने का अभ्यास करे। पेट पीछे खींचकर रोके रहे जबतक ऊबे नहीं। थकने पर पेट ढीला करे और सीधा खड़ा हो जाये। यदि आधे खड़े आसन में यह बंध कर रहे है, और बैठे हैं तो आराम कर ले। दो-चार श्वासं ले। चित्त शांत करके फिर अभ्यास करे। एक समय में तीन बार बंध लगावें अधिक नहीं। इसका अभ्यास ठीक होने पर पेट को आगे पीछे धौकनी की तरह चलावें। आगे चलकर नवली निकाल सकते हैं और नवली-चालन कर सकते हैं।

इस आसन का चारों कालों में अभ्यास कर सकते हैं। ६ माह के अभ्यास से मृत्यु कारक प्रभावों को दूर कर सकते हैं। शरीर में वायु शुद्ध होती है, जठराग्नि प्रज्वलित होती है, रसों की वृद्धि होने लगती है और अस्थिपंजर दृढ़ होता है। यदि रोग है तो दूर होने लगते हैं। एकान्त शान्त स्थान में अभ्यास करे। पसीना आवे तो पोंछ दे या मालिश कर दे। शरीर को सूखने न दे। पसीने को शरीर पर सुखाने से धातुयें नष्ट होती है।

### वज्रौली

वज्रौली क्रिया का महत्व काम वासना पर अधिकार एवं वीर्य रक्षण के लिये है। यह हठयोग के षट्‌ कर्मो में से एक है और शरीर के लिये लाभदायक है। गृहस्थ भी इसका अभ्यास कर सकते हैं और छः मास के अभ्यास से इसमें सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। इस क्रिया में मूत्र नली में कथेटर डालना पड़ता है। एक साथ पूरा कैथेटर न डालें। एक या दो अंगुल कैथेटर रोज चढ़ावें और प्रतिदिन आगे आगे बढ़ाते जायें। इस क्रिया का अभ्यास आरम्भ करने के पहले नवली-चालन और मूलबंध सिद्ध होने से पेट प्रत्येक योगिक क्रिया के उपयुक्त बन जाता है। जब

मूत्राशय तक कैथेटर बिना कष्ट जाने लगे तब मूत्र बंध के माध्यम से नली द्वारा पानी ऊपर खीचनें का प्रयास करे। नवली क्रिया से पानी आदि शीघ्र खींच सकते है। पानी आदि को २४ मिनट तक रोके और निकाल दे। आरम्भ में कैथेटर साधारण मोटा बाद में अधिक मोटा कर देना चाहिये। कैथेटर और लिक्विड पैराफीन आधे घंटे तक उबालें और पूरा ध्यान रखें कि तौलिया हाथ, पानी एवं बर्तनों के कारण लिंग नाल में कीटाणु न जाने पावें। पानी खीचनें का अभ्यास जब हो जाये तो मट्ठा तथा दूध खीचें तत्पश्चात् घी खीचें। अन्त में व्यक्ति पारा खीचनें का अभ्यास कर सकता है। यह चरम सीमा है।

हमारे जीवन में वीर्यरक्षा का बड़ा महत्व है। ज्यादातर लोग वीर्य के कमजोरी के कारण ही आलसी, अनमने, अनुत्साही होते हैं। कोई काम करने का जोश नहीं रहता। बिन्दु धारण जीवन है, बिन्दु नाश मरण है। विन्दु पात से भय, अपराध भाव अथवा किसी प्रकार की कुंठा नहीं उत्पन्न होनी चाहिये। यदि रक्षा हो सके तो लाभ है। जितनी वीर्य रक्षा होगी, उतना ही जीवन में संसारिक और पारमार्थिक लाभ होगा। काम करने के घंटे बढ़ जायेगें, थकान नहीं आवेगी। जैसे क्रियाओं में हठ नहीं की जाती, उसी प्रकार वीर्य रक्षण जबरदस्ती नहीं होता। ब्रह्मचर्य पालन के लिए शारीरिक और मानसिक अवस्था तैयार करनी पड़ती है। व्यर्थ बातचीत अधिक लोगों में व्यर्थ मिलना घूमना आदि रोकना पड़ता है। सिद्धांत ग्रंथो का अध्ययन प्रतिदिन करना आवश्यक हैं यौगिक क्रियायें करना भी उतना ही आवश्यक है। प्राणायाम शीर्षासन और वज्रौली ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक त्रिकूट है।

शरीर में स्थित बिन्दु सृजन-शक्ति का प्रतीक है। बिन्दु का सम्बन्ध सूर्यमंडल से है जो मूलाधार में स्थित है। जठराग्नि पर बिन्दु का प्रभाव पड़ता है। शरीर की कांति से भी वीर्य का सम्बन्ध है। सूर्यमंडल, शक्ति का स्थान है और चन्द्रमंडल शिव का। कुंडलिनी शक्ति महामाया की प्रतिनिधि है। शिव और शक्ति के मिलन से परम कल्याण होता है। बिन्दु की क्रिया से ही जीवन वर्धन और संकोचन अर्थात् निर्माण, विकास और विनाश की लीला होती है। योगी को अपना ब्रह्मचर्य सिद्ध कर लेने पर साधना में बड़ी गति मिलती है। बिन्दु नाश से साधना की गति

मंद होती है और कुछ समय पश्चात् एकदम रूक जाती है। बिन्दु की पूर्ण रक्षा करने से कोई सफलता पहुंच के बाहर नहीं रहती। इसकी महिमा का ज्ञान साधना करने वाले ही अच्छी तरह समझ सकते हैं। शरीर में सुख और दुःखकारी भावों का उदय बिन्दु क्षय और रक्षण पर आधारित है।

जब बज्रौली का अभ्यास करे तो नमक, मिर्च, मसाले आदि त्याग दे, नहीं तो मूत्र नली में जलन होगी। क्रिया की सिद्धि के पश्चात् यह बन्धन नहीं रहेगा। पेशाब करते समय रोक रोक कर मूत्र त्याग करें। बार-बार ऊपर खीचे मानों वापस थैली में भर रहे हों। यदि पेशाब में जलन जान पड़े तो खड़े होकर मूत्र त्यागे और तरल पदार्थ अधिक पीयें, जिनसे पेशाब अधिक बनता हो।

संसार में अधिकतर व्यक्ति अज्ञान में पड़े हुए जीवन बिता देते हैं और कर्मठता एवं बौद्धिक योग्यता से केवल स्थूल लाभ उठाते हैं। यदि चेतना-स्तर एवं शरीर की साधना सफल व्यक्ति भी करे तो उनका विकास होगा। सबके लाभ हेतु जो साधनाऐं योग्य व्यक्तियों के अनुभव पर आधारित हैं उन्ही का अभ्यास योगी पुरूष करता है।

अभ्यास से ही सिद्धि प्राप्त होती है। अभ्यास का और सिद्धियों को प्राप्त करने का अधिकार भोगमय संसार में रहने वालों को भी है। मुक्ति प्राप्त करने का भी अधिकार सबको है लेकिन सभी प्रकार के लाभों को प्राप्त करने के लिये साधना करना आवश्यक है। पृथ्वी पर कहीं पर रहने वाले हों सभी सिद्ध हो सकते हैं। प्रारब्ध को भोगते हुये भी योग साधना द्वारा सब सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। महान सुख देने वाली साधनायें सम्यक् रूप से करनी चाहिये।

कुछ पाश्चात्य डाक्टरों का मत है कि वीर्य धनीभूत प्रोटिन (Concentrated high protein) मात्र है जिसका रक्षण अनेक शरीर दोष उत्पन्न करता है। वीर्य खर्च करते रहना लाभदायी है। इसके रक्षण को अधिक महत्व देना अप्राकृतिक और हानिकारक है। यह विचार भ्रामक है। वीर्य शक्ति है। शक्ति का उपयोग हम संभोग में करें तो क्षणिक सुख-लाभ होता है और वह सुख भी ऐसा जो अपनी मानसिक व्यवस्था पर आधारित होता है। अपनी यौन शक्ति को हम अन्य लाभदायी

विकासात्मा क्रियायों में लगा सकते हैं।

## सहजोली और अमरौली

यह दोनों वज्रौली के भेद हैं। अनका उद्देश्य भी बिन्दु रक्षण ही है। यदि अचानक बिन्दु-चालन हो जाय अथवा वासना जागे तो इड़ा और पिंगला को अर्थात् दोनों नासापुटों को बराबर चला ले, इससे वीर्यक्षरण रूक जायेगा। अमरौली में वज्रौली के समान ही मूत्रनाली का शोधन करना होता है। कैथेटर डालकर मूत्र नली में धीरे-धीरे हवा फूँकी जाती है।

सहजोली रहस्यपूर्ण क्रिया है। इस साधारण क्रिया से अनेक लाभ होते हैं। इसकी साधना अत्यन्त सरल है। प्रयत्न पूर्वक इसे सिद्ध करना चहिये। मूत्र रोक रोक कर त्याग करना चाहिये। सर्वदा मूत्र त्याग करते समय वायु को वेग पूर्वक मूत्र द्वार से ऊपर खीचंने का अभ्यास करें तो बिन्दु रोकने की शक्ति प्राप्त होती है। ऐसा मत है कि सौ स्त्रियो के साथ संभोग करने पर भी बिन्दुपात नहीं होता। बिन्दु रूपी महारत्न को सिद्ध करने पर इस पृथ्वी पर क्या सिद्ध नहीं हो सकता।

भगवान शंकर कहते हैं, बिन्दु धारण से ईश्वरत्व प्राप्त होता है जिसके लिये मुझे साधना करनी पड़ती है। मुझे जो ईश्वरत्व प्राप्त हुआ है वह बिन्दुधारण के कारण ही है।

## शक्ति चालन

मूलाधार कमल में कुंडलिनी सोयी हुई है। उसका चालन इस क्रिया द्वारा करना चाहिये। अपान वायु को रोकर बलपूर्वक ऊपर खीचे। मुक्तासान में स्थित होकर यह क्रिया करें। यही शक्ति चालान क्रिया है। शक्ति चालन क्रिया का अभ्यास प्रतिदिन करे तो आयु में वृद्धि होती है और रोगनाश होता है। कुंडलिनी, जो सर्पिणी-रूपी कही गई है, वह निंद्रा त्याग कर स्वयं ऊपर जाने लगती है। सिद्धि चाहने वाले योगी को शक्ति चालन का नित्य अभ्यास करना चाहिये। जो शक्ति चालन का अभ्यास नित्य करता है, उसका शरीर सुन्दर हो जाता है। काया-सिद्ध होती है और अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त होने लगते हैं। क्रिया को ठीक समझकर प्रतिदिन दो मुहूर्त तक जो विधिपूर्वक अभ्यास करता है, उसे

मृत्युभय नहीं रहता।

यह दस मुद्रायें हैं। इनमें एक मुद्रा का भी अभ्यास करने पर भी सभी प्रकार की इच्छित सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। स्त्रियां भी इनका अभ्यास कर सकती हैं।

### साधना के विघ्न एवं सहायक

देवी पार्वती ने प्रश्न किया कि भगवन् उन विघ्नों का वर्णन कीजिये जो परमार्थ की राह में साधक के सामने आते हैं।

भगवान शंकर ने उत्तर दिया—'हे देवी, सुनो।' मुक्ति पथ पर चलने वाले मनुष्यों के सामने संसार के भोगो में राग ही परमबन्धन है।

नारी (नारी के लिए पुरूष) शैया, भोजन, आसन, वस्त्र, स्त्री-सुख, चुम्बन, पान-पीने की अनेक वस्तुयें, राज्य, ऐश्वर्य, शौर्य (शरीर-बल-अभिमान) एवं अनेक विभूतियां, सोना, चांदी, तांबा, रत्न, गोधन, पांडित्य, वेद, शास्त्र, नृत्य, गीत, उत्तम अलंकार तथा चिन्ह, वंशी, वीणा, मृदंग, हाथी घोड़े, वाहन, पत्नी, सन्तान आदि विघ्न उत्पन्न करते हैं।

भोग रूपी विघ्नों के अतिरिक्त धार्मिककृत्य जो विघ्नकारी होते है उन्हें भी जानना चाहिये। स्नान, पूजा, अतिथि सेवा, होम, अग्निक्षेत्र, सुख, प्रसन्नता, व्रत, उपासना, नियम, मौन, इन्द्रिय, निग्रह, अध्ययन्न, मंत्र, दान, चतुर्दिक ख्याति, वापी, कूप, तड़ाग, महल, बाग बगीचा, काव्य, कलायें, यक्ष, चंद्रायण, कृच्छ—चंद्रायण, तीर्थ आदि विषय भी बाधक हो जाते हैं। यह सब पुण्य कार्य है, लेकिन सचेत रहना चाहिये कि ये साधना में बाधक न हों।

अब वह राह बताता हूं कि उन्नति के मार्ग में बाधाएं न आयें।

गोमुख आदि आसन का अभ्यास तथा धौति, प्रक्षालन आदि क्रियायें करें। नाड़ी-संचार-विज्ञान, प्रत्याहार और इन्द्रिय-निरोध को जानना चाहिये। नवली-चालान और वज्रौली करे। नाड़ियों के कर्म अर्थात प्राणायाम करे। मूत्रछिद्र से खीचें हुये रस को चौबिस मिनट तक रोके फिर बाहर निकाल दे। यह कालसमाधि है।

साधु पुरूषो का संग और दुर्जनों से संकोच का व्यवहार करना चाहिये। प्रत्येक श्वास के साथ अपने लक्ष्य का ध्यान रखें। एक क्षण

के लिए भी जीवन के लक्ष्य को भूले नहीं। ऐसा मनन करते रहना चाहिये कि वह ब्रह्म ही सब रूपों में स्थित है, परन्तु ब्रह्म का कोई रूप नहीं है। इस प्रकार मनन करते-करते जब इस पिण्ड रूपी शरीर का मान नहीं रह जाता तब ब्रह्मैक्य हो जाता है और चित्त पूर्णतया शान्त हो जाता है।

सभी विघ्न, नाना रूपों एवं भावनाओं में विद्यमान रहते हैं। सत्य का ज्ञान ही योग-सिद्धि है।

### योग के स्वरूप भेद

मंत्र योग, हठयोग, लययोग, और राजयोग जिसमें राजाधिराज योग भी है। यही चार मुख्य योग हैं।

### साधक अधिकारी भेद

गुरु को अधिकारी भेद भली भांति समझ लेना चाहिये।

साधक चार प्रकार के होते हैं। मृदु, मध्यम, अधिमात्रिक और अधिमात्रम्। वैयक्तिक गुणों पर अधिकारी भेद आधारित होते है। अधिमात्रम् साधक सर्वश्रेष्ठ है और संसार सागर को लाघंने में पूर्णतया समर्थ हैं।

### १. मृदु साधक

मन्द-उत्साही, मूढ़ भाव वाले, मोह करने वाले, हठी, व्याधियों से जिनका जीवन भरा है, श्रेष्ठ पुरूषों के निन्दक, लोभी, पाप-रत-मति, बहुत भोजन करने वाले, स्त्रीलुब्ध (मन को स्त्रियों में आश्रित करने वाला) चपल कातर, रोगी, पराधीन, अति निष्ठुर, मन्द आचरण वाले, मन्द वीर्य (आलसी) यह मृदु साधक होते है। यदि परम प्रयत्न के साथ यह लोग साधना करे तो १२ वर्षो में योग-सिद्धि प्राप्त करेगें। ये केवल मंत्रयोग के अधिकारी होते हैं।

### २. मध्यम साधक

समत्व बुद्धि वाले, क्षमाशील, पुण्याकांक्षी, प्रियभाषी, समस्त कालों में सामान्य भाव, संशय रहित व्यक्ति मध्यम साधक हैं। ये लय-योग के अधिकारी हैं। गुरु को चाहिये कि साधक के गुण भलीभांति समझ

लें, तभी लय-योग की शिक्षा दें।

### ३. अधिमात्रिक साधक

स्थिर बुद्धि, लग्नशील, स्वाधीन (रोटी कमाने-परिवार एवं संसारिक बोझों से मुक्त) वीर्यवान, शूर, स्थिर आयुवाला, (परिपक्व आयु), श्रद्धावान्, गुरुचरणों का पूजक, धर्यवान हो, तो अधिमात्रिक साधक है। उसे हठ योग की दीक्षा सांगोपांग देनी चाहिये।

### ४. अधिमात्रम् साधक

सभी प्रकार की योग साधनाओं के ये पूर्ण अधिकारी होते हैं। महान पौरूषवाला, उत्साही, मन की गतियों को जानने वाला, शौर्यवान्, शास्त्रज्ञानी, अभ्यासशील, भेद-बुद्धि रहित, आकुलता-हीन, नवयौवन सम्पन्न, मिताहारी, जितेन्द्रिय, निर्भय, पवित्र, दक्ष, दाता, सभी लोगो को सहारा देने वाला, विकारहीन, स्थिर-बुद्धि, बुद्धिमान, यथार्थ इच्छा वाला, (जो अपनी क्रियाओं की बाबत डींग न मारता हो) प्रिय भाषी, शास्त्रों में विश्वासी, देवता एवं श्रेष्ठ जनों के प्रति आदर भाव रखने वाला तथा जन साधारण में अनुरक्ति न रखता हो ओर जिसके शरीर में कोई महान व्याधि न हो, ऐसा साधक अधिमात्रतम कहा गया है अर्थात् योग का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी माना गया है। सब प्रकार के योगों की शिक्षा वह ले सकता है ऐसे गुणवाले व्यक्ति के मिलने पर अन्य किसी बात का विचार किये विना योग की सम्पूर्ण शिक्षा देनी चाहिये।

राजयोग अर्थात् आष्टांग योग, जिसकी व्याख्या महर्षि पतंजलि ने की है, उसके साधरण रूप से सभी अधिकारी हैं। आयु, लिंग, देश, जाति के भेद बाधक नहीं हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, यह राजयोग के आठ अंग है।

### प्रतीकोपासना अर्थात् छाया-पुरूष-सिद्धि

जब धूप भलीभांति तप रही हो, अपनी छाया में ही छाया-पुरूष अर्थात् ईश्वर को, दोनों नेत्रों को अच्छी तरह खोल कर देखे। कुछ समय वाद अपनी उसी छाया को आकाश रूपी आंगन में कल्पना द्वारा देखे। जब अपनी छाया आकाश में दिखाई पड़ने लगे तो समझ ले कि वह

छाया पुरूष ईश्वर है।

शुभ मुहूर्त में जब आकाश स्वच्छ हो सूर्य यौवनावस्था में हो अपना चित्त शांत हो, एकान्त मैदान में अथवा नदी के किनारे अपनी छाया के कंठ अथवा सिर पर त्राटक करे। त्राटक जब स्थिर हो जाये आकाश में देखे। छाया पुरूष के दर्शन आकाश रूपी आंगन में शीघ्र होने लगेगें। भविष्य में होने वाली घटनाओं का आभास मिलने लगेगा।

छाया पुरूष की इस उपासना को प्रतीकोपासना कहते हैं। यह साधना दृष्ट और अदृष्ट अनेकों प्रकार के फल देने वाली है। छाया दर्शन पवित्रता उत्पन्न करता है। इसमें कोई शंका नहीं है। प्रतिदिन अभ्यास करने वाले की आयु बढ़ जाती है और विनाशकारी तत्व नहीं पनपते। आकाश रूपी आंगन में जब अपना प्रतीक (छाया) पूर्ण-रूपेण प्रत्यक्ष होने लगे और साथ में यदि मंत्र जप का अभ्यास किया जाय तब साधक वायु तत्व पर विजय प्राप्त कर लेता है, इच्छा-विचरण सिद्ध हो जाता है। यदि प्रतिदिन अभ्यास चलता रहे तो कुछ समय बाद अपने प्रतीक में परमात्मा के दर्शन होने लगेगें। परमात्मदर्शन का भाव स्थिर होने पर, छाया रूपी पूर्णआनन्दमय एकपुरूष की कृपा से व्यक्ति परमतत्व में स्थित् हो जाता है। साधक अपने पापमय संस्कारों को नष्ट कर लेता है, पुण्यमय संस्कार वृद्धि प्राप्त करते हैं। यात्राकाल, विवाह, शुभकर्मो के अवसर पर तथा संकट काल में उचित आदेश प्राप्त होने लगते हैं। निरन्तर अभ्यास द्वारा छाया पुरूष को साधक अपने अन्तःकरण में देखने लगता है। वह सुख का अधिकारी बनता है। प्रसन्न एवं शान्तिचित्त हो जाता है।

## नाद योग

दोनों कान के छिद्र अंगूठों से बन्द करे, दोनो तर्जनियों से दोनों नेत्र बंद करे तथा अनामिका और कनिष्ठिका उंगलियों से होठों को नीचे ऊपर से दबा ले। वायु को रोक ले। यह अभ्यास योगी दिन प्रतिदिन करे तो आत्मारूपी ज्योति शीघ्र दृष्टिगोचर होगी। लय न टूटे और विशुद्ध एकरस, विमल ज्योति जब दीखने लगे तो कुसंस्कार नष्ट हो जाते हैं और श्रेष्ठ मार्ग में गति होती है। निरन्तर अभ्यास, योगी के पापमय

संस्कारों का पूर्णतया विनाश कर देता है। इन्द्रियां और उनके विषय भूल जाते हैं। साधक शरीर से परे शरीरी (आत्मा) से एकाकार हो जाता है इस क्रिया का अभ्यास गुप्त भाव से यदि सर्वदा करता रहे तो साधक ब्रह्मलीन होता है, चाहे उसने पापकर्म ही क्यों न किये हों। यह शीघ्र लाभ देने वाली साधना रहस्यमय है। निर्वाण प्रदान करने वाली है एवं प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करने योग्य है। भगवान् शंकर कहते हैं कि यह क्रिया मेरी प्रिय साधना है।

अभ्यास करते करते कुछ समय पश्चात् नाद की उत्पति होती है। भौंरों की गुंजार तथा वीणा के स्वर के समान मंत्र गूंजने लगता है। साधक की नाद विषयक अनुभूति यही है। कुछ समय बाद घंटा बजने के स्वर, तत्पश्चात् मेघ गर्जन का नाद अनुभव में आता है। अभ्यास करते रहने पर, संसार में उत्पन्न होने वाले दुःख नष्ट हो जाते हैं। नाद में चित्त लगाकर साधक जब स्थिर हो जाता है तो लय-लोग सिद्ध हो जाता है। नाद में योगी का चित्त निरन्तर रहने रमने लगता है, सभी बाहरी वस्तुएं विस्मृत हो जाती है, चित्त-वृत्तियों का शमन हो जाता है। लगातार अभ्यास द्वारा साधक अनेक सिद्धियां प्राप्त कर लेता है। कर्मक्षेत्र में संकल्प रहित होकर वह क्रियाशील रहता है। चित्तरूपी आकाश में लय प्राप्त करता है, अर्थात् चित्त की चंचलता शान्त हो जाती है। सृष्टि लीला में पात्र भाव से अलिप्त, अपने लाभ हानि के विचारों से परे रहकर कर्म करता रहता है।

सिद्ध-आसन के समान आसन नहीं है, कुम्भक के समान बलदायी क्रिया नहीं है, खेचरी के समान कोई मुद्रा नहीं है तथा नाद योग के समान अन्य कोई लय-योग नहीं है।

## मुक्त पुरूषों के अनुभव

मुक्त पुरूषों के अनुभव जानकर पाप-संस्कारों से युक्त साधक भी मुक्ति लाभ करते हैं। साधक अपने इष्ट की भली प्रकार पूजा करे और उन्हीं के पास उत्तम योगों की साधना करे। आसन सुखदायी हो अर्थात् सरल हो। गुरु से भलीभांति योग क्रियाओं की दीक्षा ले। योग्य गुरु को जीवनोपयोगी सभी वस्तुयें देकर प्रयत्नपूर्वक संतुष्ट करे। बुद्धिमान

ब्राह्मणों को संतुष्ट करे। नाना प्रकार की मंगल वस्तुओं को धारण करे। मंदिर में पवित्र होकर कल्याणकारक योग का ज्ञान ग्रहण करे। जन सम्पर्क से अलग, पद्मासन में स्थित दोनों विज्ञान नाड़ियों (इड़ा और पिंगला) को उंगलियों से रोक ले। प्राणायाम का अभ्यास करे। परिश्रमपूर्वक अभ्यास करने पर योगी का प्राणायाम सिद्ध हो जाता है, सुख रूपी निरजंन का अनुभव होने लगता है और सिद्धियां प्राप्त होने लगती हैं। प्राणायाम के गहन अभ्यास द्वारा वायुसिद्धि प्राप्त होती है और अन्य सिद्धियां दूर नहीं रह जातीं। नित्यप्रति के प्राणायाम अभ्यास से पापमय संस्कार नष्ट होते हैं तथा प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करने लगता है। देवपूजन करता हुआ अभ्यास में लगा हुआ योगी अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर तीनों लोकों में भ्रमण कर सकता है। योगी जिस भाव को लेकर प्राणायाम का अभ्यास करता है, उसी भाव के अनुरूप उसका शरीर हो जाता है। आत्मभाव में स्थित होकर वह योगी सृष्टिलीला में निर्विकार योगदान करता है।

मैं अपने अनुभव के प्रमाण से साधनाफल का युक्तियुक्त वर्णन बताता हूं। योग रहस्यमय साधना है। अधिकारी का निर्णय किये बिना सभी व्यक्तियों को इसका उपदेश नहीं करना चाहिये।

कण्ठ-कूप के नीचे कूर्मनाड़ी स्थित है, इसमें मन को लगाने से चित्त की स्थिरता शीघ्र प्राप्त होती है।

सिर के कपाल भाग में रूद्राक्ष के समान बिंवर है। इसमें ध्यान लगाने से विद्युत प्रकाश का अनुभव होता है। इस चिन्तन द्वारा पापमय संस्कार नष्ट होते हैं एवं दुराचारी व्यक्ति भी श्रेष्ठ पथ प्राप्त करने लगता है। दिन रात यदि इस पर ध्यान स्थिर रहे तो सिद्ध पुरूषों के दर्शन तथा उनसे वार्तालाप का निश्चित लाभ प्राप्त होता है। इस शून्य स्थान का चिन्तन बैठे हुये, भोजन करते हुये, सोते हुये, दिन रात करते रहना सम्भव है। अभ्यास करते रहने पर योगी का आकाश तत्व प्रधान हो जाता है। वह अपने चित्तरूपी आकाश में शान्त सुस्थिर हो जाता है, अर्थात् साधक का चित्त स्पंदनहीन हो जाता है। योगी अन्तरमुखी होकर चित्त में भ्रमण करता है।

ध्यान की क्रिया को भंली भांति जानकर-समझकर सिद्धि चाहने वाला योगी निरन्तर अभ्यास करे। भगवान् शंकर कहते हैं कि सतत् अभ्यास द्वारा योगी मेरे समान ईश्वरत्व और शक्ति प्राप्त करेगा। ध्यान-अभ्यास के बल पर योगी सर्वलोकप्रिय बन जाता है। सृष्टि के कारणरूप सब भूतों पर विजय प्राप्त कर अपरिगृही एवं पूर्णकाम हो जाता है।

पद्मासन में स्थित जो साधक नाक के अग्र भाग पर दृष्टि स्थिर करता है, उसके मन के सभी संकंल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं और आकाशचारी सिद्धि प्राप्त होती है।

जो योगी शुद्ध चित्त श्रद्धापूर्वक ज्योति का दर्शन करता रहता है, वह अपने अभ्यास के बल पर स्वयं उस ज्योति का अधिकारी हो जाता है।

भूमि पर चित्त लेटकर आज्ञा चक्र में ज्योति का ध्यान करने से भ्रम का तत्काल नाश होता है और श्वास पर संयम प्राप्त होता है।

सिर के पिछले भाग पर ध्यान करने से हानिकारक तत्वों पर विजय प्राप्त होती है। मृत्यु टल जाती है। आज्ञाचक्र में दृष्टि स्थिर करने से योगी अद्वितीय कीर्ति अर्जन करता है।

### भोजन एवं रस

चार प्रकार के भोजन लेह्य, चोष्य, चर्व्य और पेय ही हैं। शरीर मे भोजन से उत्पन्न होने वाले रस तीन भागों में बंट जाते हैं। सारतम भाग शरीर के सूक्ष्मतम अंगों का पोषण करता है, जैसे बुद्धि, मन, एवं इन्द्रियां आदि। रस का दूसरा भाग सप्त धातुमय शरीर पिण्ड का पोषण करता है। रस का तीसरा भाग विष्ठा और मूत्र के साथ बाहर निकल जाता है। अन्न का आधा भाग सम्पूर्ण नाड़ियों के द्वारा सम्पूर्ण नाड़ियों का पोषण करता हुआ शरीर का रक्षण करता है। वायु का संचार नाड़ियों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में होता है। उसी माध्यम से अन्नों का रस समान रूप से अंगों को पुष्ट करता है नाड़ियों में चौदह नाड़ियां प्राण-प्रवाह की क्रिया में मुख्य हैं। अन्य नाड़ियां इनके अधीन है।

## कुण्डलिनी, एवं मूलाधार चक्र

गुदाद्वार से दो अंगुल ऊपर, लिंगमूल से एक अंगुल नीचे स्वस्तिक-चिन्ह के समान चार अंगुल का चौकोर कन्द है। कन्द के मध्य में पीछे की ओर मुख किये हुये योनि है, जिनमें कुण्डलिनी विद्यमान है। कुण्डलिनी आठ स्थानों से टेढ़ी है और स्वयं को पूर्णरूपेण लपेटे हुए पूंछ को अपने मुख में लेकर सुषुम्ना नाड़ी के मुख पर स्थित है यह सोई हुई नागिन के समान है और अपनी ही प्रभा से प्रकाशित होती रहती है, स्वयं प्रकाश है। इसमें सर्प के समान अत्यन्त सूक्ष्म ग्रन्थियां हैं। वाग्देवी अर्थात् वाणी की अधिष्ठात्री देवी वीज रूप से यहीं स्थित मानी गई हैं यही वाणी का उत्पत्ति स्थान है।

कुण्डलिनी शक्ति को वैष्णवी शक्ति भी माना गया है। यह शुद्ध स्वर्ण आभा वाली है, सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण को विकसित करती है। किसी किसी ग्रन्थ में कुण्डलिनी में स्थित श्रेष्ठ तेज को बीज कहा गया है क्रिया और विज्ञान से युक्त तेज बीज मूलाधार चक्र में योनि में स्थित है। वंधूक पुष्प के रंग वाला कामबीज भी वहीं स्थित माना गया है। इस कामवीज को कुछ लेखकों ने हंस भी कहा है। पिंगला नाड़ी के पास ही परमतेजोमय तेजबीज की स्थिति भी मानी गई है। इस प्रकार कतिपय योगियों ने मूलाधार में ही वाग्बीज, कामबीज और तेज अथवा शक्ति बीज की स्थिति मानकर, त्रिपुरभैरवी का स्थान वहीं मान लिया है। मूलाधार की चार दिशाओं में चार पंखुड़ियां हैं। इनको वर्ण माला के चारों अक्षरों का (व, श, ष, और स) उत्पत्ति स्थान माना गया है। इस कमल को कुल कहा गया है जो कि स्वयंभूलिंग से युक्त है और स्वर्ण आभावाला है। यहां का सिद्ध चिन्ह हाथी तथा अधिष्ठात्री देवी डाकनी हैं। मूलाधार चक्र के बीच में योनि है और योनि में कुण्डलिनी हैं जिसके ऊपर प्रकाशभय तेजबीज स्वतंत्र रूप से भ्रमण करने वाला और इस प्रकार कुण्डलिनी की परिक्रमा करने वाला माना गया है।

इस मूलाधार चक्र में जो ध्यान करता है, उसे प्रथम दादुरी सिद्धि प्राप्त होती है। तत्पश्चात् भूमि से ऊपर उठने की सिद्धि मिलती है। कान्तिमय शरीर, उत्कृष्ट जठराग्नि, आरोग्य, कार्यपटुता एवं अंगों की क्रियाशीलता बढ़ती है। साधक भूत भविष्य की सभी बातों का ज्ञाता

हो जाता है। साधक शास्त्रों के सत्य अर्थ अर्थात् रहस्य को जान जाता है। जिन शास्त्रों को न कभी सुना हो न पढ़ा हो उनका रहस्य भी जानने लगता है। सरस्वती देवी साधक की वाणी में नृत्य करने लगती है। मंत्र-सिद्धि शीघ्र होने लगती है। ऐसे साधक को विजय वरण करती है। बुढ़ापा एवं मृत्यु कारक दोष समूह नष्ट हो जाते हैं अर्थात् कायाकष्ट और विस्मृत आदि दोष नहीं उत्पन्न होते। अनेक प्रवृतिकारक गुणों का भी शमन हो जाता है। चित्त-शांति प्राप्त होती है। समभाव में स्थित व्यक्ति निर्लिप्त होकर कर्म करता रहता है। प्राणायाम करने वाले साधकों को कुण्डलिनी शक्ति का निरन्तर ध्यान करना चाहिये, क्योंकि योगी जब मूलाधार-स्थित स्वयंभूलिंग का ध्यान करने लगता है तो अनेकों दुःखो से छुटकारा पाने लगता है। ध्यान-सिद्धि और कुण्डलिनी-सिद्धि के पश्चात् दुःखपूर्ण संस्कारों एवं परिस्थितियों से छुटकारा पाने के लिए एक क्षण का ध्यान शक्तिशाली होता है। योगी जिस वस्तु की कामना करता है उसे सहज ही प्राप्त कर लेता है। शक्ति-तत्व के पूर्ण जागरण के पश्चात् कुछ भी अप्राप्त नहीं रह जाता। कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के पश्चात यदि निरन्तर एक वर्ष तक अभ्यास चलता रहे, तो संपूर्ण मुक्ति दायी तत्व प्राप्त होने लगते हैं।

मूलाधार चक्र के योनि-स्थान में जो स्वयंभूलिंग स्थित है, वह तंत्र शास्त्र का सर्व श्रेष्ठ तत्व है। इससे बड़ी शक्ति शरीर में अन्य कहीं नहीं है। अपने भीतर लिंग अर्थात् चिन्ह को छोड़कर बाह्य संसार में स्थित लिंगों और चिन्हों की जो व्यक्ति पूजा करता है, वह अपने घर की अथवा स्वयं प्राप्त महान् शक्ति को भूलकर शक्तिहीन वस्तुओं में जीवनी शक्ति की आशा करता हुआ भ्रमित रहता है। स्वयं में स्थित स्वंयभूलिंग की अर्चना निरालस्य होकर करनी चाहिये। छः महिनों के निरन्तर अभ्यास द्वारा सकल सिद्धियां प्राप्त होती है। शक्ति प्राप्ति के लिये अन्य किसी साधना का विचार करना व्यर्थ है। अभ्यास के कारण शीध्र की सुषुम्ना नाड़ी में वायु सहज भाव से प्रवेश करने लगती है। इसके बाद मन की गतियों पर विजय प्राप्त होने लगती है तथा वायु और बिन्दु पर अधिकार प्राप्त होने लगता है इसके बाद मन की गतियों पर विजय प्राप्त हो जाती है कामनाओं पर पूर्ण विजय होने लगती है और एहिक तथा आमुष्मिकी सिद्धियां (लौकिक तथा पारलौकिक) प्राप्त होने लगती है।

### स्वाधिष्ठान चक्र

लिंगमूल में मूलाधार-स्थान के ऊपर (पेडू में) स्वाधिष्ठान चक्र है जो लाल वर्ण के कमल के समान है। ६ दल हैं जिन पर वर्णमाला के छः अक्षर (व, भ, म, य, र, ल) स्थित है। अर्थात् ६ अक्षरों का यह उत्पति स्थान है। बालनामक सिद्ध का स्थान है तथा अधिष्ठातृदेवी का नाम राकिनी है। दिव्य स्वाधिष्ठान चक्र पर ध्यान स्थिर करने वाले व्यक्ति पर कामिनियां मोहित हो जाती हैं। बिना पढ़े और बिना सुने हुये शास्त्रों का ज्ञान आविर्भूत होता है। सब प्रकार के रोगों से मुक्ति मिलती है। भ्रम-रहित होकर साधक पृथ्वी पर जीवन यापन करता है। मरण क्रिया को साधक बांध देता है और उसे बंधन में कोई नहीं डाल पाता। परम सिद्धि प्राप्त होती है, जिनमें अणिमादि आठ ऐश्वर्यों का समावेश है। वायु संचार भलीभांति होने के कारण शरीर में लाभदायी रसों की वृद्धि होती है। सहस्त्रार से टपकने वाले अमृत-रस की मात्रा बढ़ जाती है।

### मणिपुर चक्र

यह नाभि स्थान में स्थित तीसरा चक्र अथवा कमल है। दस पंखुड़ियां है और वर्णमाला के दस अक्षरों (ड, ढ, ण, त, थ, द, घ, न, प, फ,) का उत्पति स्थान है। विष्णु देवता अधिष्ठता हैं, मंदाकिनी सिद्धि है, किन्नरी देवी है।

इस चक्र पर ध्यान करने से योगी को पाताल सिद्धि प्राप्त होती है। अर्थात् नाभि के नीचे के सभी अंगों की शुद्धि और उन पर विजय मिलती है। सुख का धारा-प्रवाह अनुभव होता है। मनचाही घटनायें होने लगती हैं। दुःख और रोग का नाश हो जाता है। काल बाधा प्रभावित नहीं करती, परकाया-प्रवेश की क्षमता प्राप्त होती है। सुवर्ण बनाने की क्रिया अथवा सिद्धि मिलती है। सिद्धों का दर्शन होने लगता है, औषधियों को तथा धरती में छिपे खज़ानों को जानने की शक्ति मिलती है।

## अनाहत चक्र

चौथे कमल या अनाहत चक्र का स्थान हृदय है। यह बारह पंखुड़ियों वाला है। वर्णमाला के बारह अक्षरों (क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, त्र, ट, ठ) का उत्पति स्थान है इस कमल पर अत्यन्त लाल रंग का परम तेज युक्त बाणलिंग स्थित माना गया है। यह सुख स्थान है, कामनाओं का अधिष्ठता है। इस कमल में ध्यान स्थिर करने पर दृष्ट और अदृष्ट का ज्ञान होने लगता है। जाने-अनजाने फल अथवा लाभ प्राप्त होते हैं। यह पिनाकी नामक सिद्ध का स्थान कहा गया है। कांकिनी अधिष्ठातृ देवी कही गयी है। शरीर सुन्दर और आकर्षक हो जाता है। अप्रतिम ज्ञान, त्रिकाल ज्ञान, दूर छुति, दूरदृष्टि, स्वेच्छागमन आदि गुण प्राप्त होते हैं। सिद्धों और योगियों के दर्शन होने लगते हैं। आकाश गमन की क्षमता प्राप्त होती है एवं आकाशचारी सभी जीव मित्रभाव रखते हैं।

प्रथम बाणलिंग मूलाधार में है। दूसरा बाणलिंग का स्थान अनाहत है। तीसरा बाणलिंग आज्ञाचक्र में माना गया है। अनाहत चक्र में ध्यान स्थिर करने का माहात्म्य ब्रह्मादि सकल देवता भी ठीक-२ वर्णन नहीं कर सकते। यह चक्र महान् रहस्यों का स्थान है।

## विशुद्ध चक्र

यह पांचवा चक्र कंठस्थान में स्थित चक्र कहा जाता है। सोलह पंखुड़ियों वाला यह चक्र वर्णमाला के सोलह अक्षरों (अ, आ, इ, ई, ऊ, उ, ऋ, ल, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः) का उत्पति स्थान है। शुद्ध स्वर्ण की आभा वाला है।

यह छगल, नामक सिद्ध का स्थान है। शालिनी अधिष्ठातृदेवी है। इस चक्र में ध्यान करने से पांडित्य बढ़ता है। चारों वेदों का वर्णन करने में ब्रह्मा के समान योग्यता प्राप्त होती है। योगी के लिये इस चक्र का ध्यान गुणकारी है। योगी का मन जब इस चक्र में स्थिर हो जाता है, देवताओं के दर्शन होने लगते हैं। बाह्य वस्तुओं से चित्त निवृत होकर अपने अंतर में स्थित हो जाता है। शरीर की शक्तियों का ह्रास नहीं होता है। हजार वर्षो तक भी शरीर मजबूत और स्वस्थ रह सकता है। इस चक्र में ध्यान स्थिर करने वाला योगी सहस्त्र वर्षो का समय क्षण के समान बिता देता है अर्थात् समय का प्रवाह योगी को प्रभावित नहीं करता।

## आज्ञा चक्र

शरीर में स्थित चक्रों में छठवां चक्र आज्ञा चक्र है। यह भूमध्य में स्थित है। हंस की तरह शुभ्र आभा वाला है। महाकाल सिद्ध का स्थान है एवं हाकिनी देवी है। इस चक्र में शरत्कालीन चंद्रमा की कान्ति छायी रहती है। दो पंखुड़ियों वाला है। वर्ण-माला के दो अक्षर (ह, क्ष) का उत्पत्ति स्थान है। परमहंस पुरूष का स्थान यहां माना गया है। इस चक्र को सिद्ध करने पर किसी दुःख का अनुभव नहीं होता। धैर्य बहुत बढ़ता है। यहां परमतेजमय देवता का भी स्थान कहा गया है और इस चक्र को सभी तंत्रों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। यहां ध्यान करने से परासिद्धि प्राप्त होती है।

तीसरे वाणलिंग की स्थिति इस आज्ञा चक्र में मानी गई है। यह मुक्तिदायक चक्र है। भगवान शंकर कहते हैं कि इस चक्र में ध्यान करने वाला मेरे समान हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

शास्त्रों में इड़ा नाड़ी को वरूणा नदी कहा गया है। पिंगला को असी नदी माना है। वरूणा और असी के बीच स्थित वाराणसी यही आज्ञा चक्र है। विश्वनाथ का निवास इसी में है। ऋषियों, महार्षियों एवं शास्त्रकारों द्वारा इस चक्र में माहात्मय का अत्यधिक वर्णन किया गया है। इस चक्र को श्रेष्ठतम चक्र बताया है।

मेरूदण्ड के सहारे स्थित सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधार तक गई है। सुषुम्ना ही गंगा कही गई है। यह बायें नासापुट के पास से गुजरती है और आज्ञा चक्र के दायें होकर जाती है। वाराणसी में तीनों नदियों की जैसी स्थिति है, उसी की कल्पना यहां की गयी है।

## सहस्त्रार

ब्रह्मरन्ध्र में स्थित कमल सप्तम चक्र है। इसमें एक हजार पंखुड़ियां हैं। सहस्त्रार कंदरूपी है। कंद में योनि स्थान है। योनि में चंद्रमा की स्थिति है। योनि त्रिकोणकार है और इससे जीवन पोषक अमृत टपकता है। चन्द्रमा से अमृत रस बहकर इड़ा नाड़ी में गिरता है। यह अमृत-धारा निरंतर प्रवाहित होती रहती है।यह इड़ा नाड़ी आज्ञाचक्र के दाहिने होकर बायें नासापुट में आती है इड़ा का उद्गम स्थान अथवा आरम्भ स्थान

वाम नासापुट है। पिंगला का उद्‌गम दक्षिण नासापुट है और सुषुम्ना का उद्‌गम ब्रह्मरन्ध्र है।

कंद रूपी मूलाधार की योनि में सूर्य है। सूर्य से कठोर विष अथवा ताप प्रवाहित होता है, जिसकी गर्मी पिंगला नाड़ी द्वारा शरीर में फैलती है। यह तेज रूपी विष दक्षिण नासापुट में पिंगला से प्रवाहित होकर आता है। इड़ा अधोवाहिनी है और पिंगला ऊर्ध्वाहिनी है। सुषुम्ना निश्चेष्ट है, जो प्राणायाम की साधना द्वारा संचारित की जाती है। इसमें होकर कुंडलिती शक्ति ऊपर एवं नीचे दोनों दिशाओं में प्रवाहित होती हैं। आज्ञाचक्र में पीठत्रय माना गया है क्योंकि वहां से पिंगला, इड़ा और सुषुम्ना तीनों गुजरती है। पीठत्रय में नाद-बिन्दु और शक्ति का सुमेल है। आज्ञाचक्र अर्थात् पीठत्रय में ध्यान स्थिर करने वाला योगी अपने पूर्व जन्मों का स्मरण प्राप्त कर लेता है। यक्ष, गन्धर्व, अप्सरायें आदि ऐसे ध्यान-सिद्ध योगी के अधीन हो जाते हैं। उस योगी की चरण सेवा सभी जीव उसके वशीभूत होकर करते हैं। इस आज्ञाचक्र में ध्यान के साथ-साथ योगी अपनी जिव्हा को उलट कर लंबिका के पीछे गड्ढे में प्रवेश करा देते हैं, अर्थात् ध्यान के साथ-२ खेचरी मुद्रा लगा लेते हैं।

मन का स्थान आज्ञा चक्र में है। यदि चंचल मन अपने स्थान पर थोड़ी देर के लिये भी स्थिर होने लगे तो योगी के पाप-संस्कार-समूह नष्ट होने लगते हैं। आज्ञा चक्र में ध्यान करने से अनेक फल प्राप्त होते हैं। वासनाओं के बन्धनों से मुक्ति मिलती है और योगी प्रसन्नता प्राप्त करता है। मृत्यु के समय जो योगी आज्ञाचक्र में ध्यान करता है परमात्मा में लीन होता है। बैठे, चलते, सोते, खाते यहां तक कि सांस लेते हुये भी जो योगी आज्ञा चक्र में ध्यानरत रहता है वह पाप कर्म करता हुआ भी पाप-संस्कार ग्रहण नहीं करता। द्वन्द्वों से मुक्त आत्म-प्रकाश से युक्त होता है। भगवान शंकर कहते हैं कि आज्ञाचक्र के माहात्म्य का वर्णन में भी पूरी तरह नहीं कर सकता। ब्रह्मादि देवता भी इस चक्र का वर्णन अंशमात्र ही कर पाते है। अब तब वर्णित सभी गुण, ऐश्वर्य और सिद्धियां आज्ञा चक्र में ध्यान करने से प्राप्त हो सकती है।

तालुमूल के ऊपर सहस्त्रार कमल अथवा चक्र है। सुषुम्ना का आरम्भ इसी चक्र के छिद्र (योनि) से होता है। सुषुम्ना का मुख नीचे

मूलाधार में स्थित है, जहां के योनि-स्थान में सुषुम्ना समाप्त होती है। शरीर की सभी नाड़ियों की यह आश्रय है। भूतमयी सृष्टि का बीज यही सुषुम्ना है। यही ब्रह्म-मार्ग प्रदान करने वाली भी है।

तालुमूल के ऊपर जो सहस्त्रार-पद्य का कंद है उसमें स्थित योनि पीठ की ओर मुंह करके यह स्थित है। योनि के छिद्र में सुषुम्ना का मूल है। ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधार तक फैली हुई तंतु के समान सुषुम्ना में कुंडलिनी शक्ति का चालन होता है। सुषुम्ना के भीतर चित्रा नाड़ी स्थित रहती है, उसी में ब्रह्मरन्ध्रादि की कल्पना करनी चाहिये लेकिन सुषुम्ना लिखने की पद्धति बन गई है। चित्रानाड़ी इतनी महान है कि उसके चिन्तन मात्र से पापमय संस्कार नष्ट होने लगते हैं।

कुंडलिनी शक्ति अपनी पूँछ को अपने मुख में रखकर सुषुम्ना द्वार को आच्छादित करके सोई रहती है, इसीलिये सुषुम्ना नाड़ी में वायु का आवागमन नहीं होता। योगी वायु-संचार करना चाहता है और इसी एक उद्देश्य-प्राप्ति के लिये अनेक क्रियायें करता है। जब तक सुषुम्ना नहीं जागृत होती तभी तक भ्रमों का अस्तित्व रहता हैं। सभी नाड़ियों को छोड़ कर, योगी केवल एक ही बात की साधना करता है कि सुषुम्ना के मुख को कुंडलिनी छोड़े और सुषुम्ना में वायु-संचार किसी प्रकार से भी हो जाये।

मूलाधार मे स्थित त्रिकोणाकार योनि के बायें कोण से इड़ा, दाहिने कोण से पिंगला तथा योनि-छिद्र के मध्य से सुषुम्ना का सम्बन्ध है। केवल सुषुम्ना ही ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाली नाड़ी है। अच्छे साधक निस्सन्देह जानते हैं कि अनेक बन्धनों से मुक्ति तभी मिलती है जब शक्ति का सम्बन्ध शिव से इस सुषुम्ना मार्ग द्वारा हो जाता है।

जैसे गंगा और यमुना के मध्य से सरस्वती गुप्त रूप से स्थित है और जैसे अनेक संगम में स्नान करने वाला श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है, उसी प्रकार योगी के लिये इन तीनों इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का संगम प्राप्त करना महत्वपूर्ण है। यमुना काले रंग की है, गंगा श्वेत है, सरस्वती गुप्त रंग वाली है। इनके संगम रूपी प्रयाग राज में मनसहित स्नान करने वाला श्रेष्ठ मार्गगामी होता है और सब पापो को भस्म करके ब्रह्ममय हो जाता है। संगम पर पितृ-तर्पण का बड़ा महत्व बताया गया है। नाड़ीत्रय के कर्म का जागृत करना ही पितृतारक क्रिया है।

तीनों नाड़ियों और योग भाषा में वर्णित तीन नाड़ियों के संगम की तरह हमारे कर्मो की भी एक त्रिवेणी है। नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य कर्मो का आचरण विचार पूर्वक एवं लगन पूर्वक करना चाहिये। तीनों नाड़ियों के संगम पर भी उसी प्रकार योगी को बारबार अपने मन को स्नान कराना चाहिये। जो व्यक्ति एक बार संगम पर स्नान कर लेता है दिव्य सुख का अनुभव करता है। योगी अपने सभी प्रकार के संस्कारों एवं पापमय को भस्म करते हुये, इस शरीर स्थित त्रिवेणी में बारबार स्नान करता है। पवित्र तथा अवपवित्र सभी अवस्थाओं में यह योग ... रूपी स्नान लाभदायी है। स्नान शुद्धि कारक है इसलिये योगी चाहे जिस भाव में हो, त्रिवेणी के स्नान हेतु प्रयत्नशील रहता है। मृत्यु के समय पर जैसे त्रिवेणी में शरीर का विसर्जन मुक्तिदायक कहा गया है, उसी प्रकार योगी का मन मृत्युकाल में यदि त्रिवेणी में स्थित होता है तो योगी मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। तंत्र-शास्त्र मे इन तीन नाड़ियों के क्रिया के समान अन्य कोई वस्तु रहस्यमय नहीं है। इन्हीं ता... सृष्टि के बन्धन एवं मुक्तिहारिणी शक्तियां निहित हैं।

इन रहस्यों को अनाधिकारी को बताने से लाभ के बदले हानि होती है। इसी प्रकार सहस्त्रार में ध्यान स्थिर करने से भी अनेक लाभ होते हैं।

साधक का मन यदि एक क्षण के लिये सहस्त्रार में टिका रह जाये तो पापमय विचार नष्ट होने लगते हैं। पतन करने वाले विचारों का त्याग ही मुक्ति की साधना है। जिसका मन जिसमें लीन होता है अथवा रमता है, उसी को प्राप्त करता है अर्थात् उसी राह पर चलता है। श्रेष्ठ योगी अणिमादि ऐश्वर्यो को भोगकर मुझसे एकाकार हो जाता है। ब्रह्मरन्ध्र एवं सहस्त्रार को भली भांति जानने से व्यक्ति सर्वशक्तिमान सत्ता का प्रिय पात्र बनता है। उसे पाप पर विजय प्राप्त होती है, मुक्ति-मार्ग का अधिकार मिलता है।

भगवान शंकर कहते हैं मैं भी साधक को विलक्षण ज्ञान प्रदान करता हूं। ब्रंह्मादि देवताओं के लिये ब्रंह्मरन्ध्र तथा सहस्त्रार का ज्ञान महत्वपूर्ण है। इस ज्ञान की प्रयत्लनपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। सृष्टि का रहस्य इस ज्ञान में है।

ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्त्र दल कमल में योनि स्थान के नीचे चन्द्र मंडल है। बुद्धिमान साधक इस चन्द्रमंड़ल का ध्यान करते हैं जिससे पृथ्वी पर योगियों को पूज्य स्थान प्राप्त होता है। योगी ऐसे गुणों को अपने मे जगा लेता है जिससे संसारी उसे मान देते हैं। योगी अपनी इच्छानुसार देवताओं के लिये पूज्य एवं सिद्धों में सर्व श्रेष्ठ सिद्ध बन सकता है।

सिर के कपाल-विवर में दूध के समान तरल पद्धार्थ से भरा सागर स्थित है, वहीं स्थित चन्द्रमा का ध्यान करे। चन्द्रमा १६ कला से युक्त है। उस क्षीर सागर में चन्द्रमा के समान शीतल एवं सूर्य के समान दैदीप्यमान हंस विहार करता है। यह तारने वाला निरंजन तत्व प्रत्येक मानव शरीर के अन्दर है। निरन्तर अभ्यास करने पर निश्चित रूप से इस हंस का आभास ३ दिनों में साधक को प्राप्त हो जाता है। इसके दर्शन मात्र से साधक के पापमय संस्कार नष्ट होने लगते हैं। अज्ञात का ज्ञान होने लगता है चित्त शुद्धि होने लगती है। निरन्तर अभ्यास द्वारा महान पातकों के समूह भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। संसार में जीवों को प्रभावित करने वाले ग्रह, साधक के अनुकूल हो जाते हैं और ग्रहों से उत्पन्न होने वाले उपद्रव शान्त हो जाते है। बाधाएं शान्त होकर टल जाती हैं, और युद्ध आदि में विजय प्राप्त होती है। आकाशगमन और भूचरी सिद्धियां प्राप्त होने लगती हैं। माहात्म्य कहां तक कहा जाये। अन्य विचार सव व्यर्थ हैं क्योंकि ध्यान से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। सतत् अभ्यास द्वारा ही सिद्धियां मिलती हैं, सोचने विचारने और अनेक कर्म करने से नहीं। भगवान शंकर प्रतिज्ञा पूर्वक कहते हैं कोई भी साधक, मेरे समान बन सकता है।

योग-शास्त्र के अध्ययन में एवं योग की क्रियायों में लगे हुये सभी योगियों को शरीर के ऊपरी सिरे पर स्थित, दिव्य सहस्त्र दल कमल ही योगसिद्धि देने वाला है। पिण्ड रूपी इस शरीर की क्रियायों से बाहर मुक्तिदायक तत्व शिरोभाग में स्थित है। इसे क्षीर सागर एवं विष्णु स्थान भी कहा गया है और इसे ही महेश्वर का निवासस्थान कैलास भी कहा गया है। यही स्थान तंत्रशास्त्र में अकुल कहा गया है, क्योंकि यह अविनाशी है। क्षय एवं बृद्धि की क्रियाओं से रहित है तथा संसार लीला

से अप्रभावित है। इस स्थान के ज्ञान मात्र से संसार में भ्रमित व्यक्ति द्वन्द्व भावों से मुक्त हो जाता है। निरन्तर अभ्यास द्वारा, योगी भूत समूह को मारने एवं जीवित करने की शक्ति प्राप्त कर सकता है। सहस्त्र दल कमल के ऊपर क्षीर सागर में हंस के निवास स्थान का अनेकों रूपकों द्वारा वर्णन किया जाता है। मन लगाकर व्याधि रहित होकर, योगी यदि अपनी चेतना को हंस में स्थित कर दे तो पाप संस्कारों से उत्पन्न बाधाओं पर विजय प्राप्त हो जायेगी। जब चित्त वृत्तियां कुल स्थान में, जो परमेश्वर का सूक्ष्म रूप से द्योतक है, पूर्णतया लीन हो जाती हैं तो परमेश्वरी को समाधि प्राप्त होती है और चचंलता पूर्णतया नष्ट हो जाती है। निरन्तर ध्यान के अभ्यास से योगी वाह्य जगत का विस्मरण कर लेता है। इस स्थिति में पहुंचने पर योगी को विचित्र सामर्थ्य प्राप्त होता है। इसी स्थान से निकले हुये अमृत रस का योगी निरन्तर पान करता रहता है। बार-बांर मरने और जन्म लेने के विधान पर जिसे कुल कहा गया है–विजय प्राप्त होती है। कुंडलिनी शक्ति इसी अकुल स्थान में लीन होती है। चारों प्रकार की सृष्टि अंहज, वेदज, उद्भिज और पिन्डज योगी के लिये विलीन हो जाती है। जहां जाकर चित्तवृत्ति विषयों से हटकर पूर्ण आनन्द मे लीन होती है, उसी की साधना विचारशील योगी परिश्रमपूर्वक करता है।

जब तक चित्त-वृत्तियां पूर्णतया शान्त नहीं हो जाती, तब तक साधक योगी नहीं कहा जा सकता। चित्त-वृत्तियों के लीन होने पर ही अखंड ज्ञान रूपी निरन्जन की प्राप्ति होती है। अपने शरीर के बाहर अपने प्रतीक की उपासना, जो पहले बताई गई है, सिद्ध करके अपने सिर के इस महत्वपूर्ण स्थान में लाकर निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। प्रतीक आदि, अन्त और मध्य से परे है। करोड़ों चन्द्रमा के समान शीतल है। अभ्यास से इसकी सिद्धि प्राप्त होगी। आलस्यहीन होकर जो साधक एक वर्ष तक अपने प्रतीक का ध्यान प्रतिदिन करता रहता है, उसे शनैः शनैः सकल सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। मन यदि आधे क्षण के लिए भी इस प्रकार ध्यान मे निश्चल हो कर टिक जाये तो पाप-संस्कार उसी क्षण नष्ट होने लगते है। जिसके दर्शन कर लेने पर मृत्युमय संस्कार से साधक पार हो जाता है, उसका अभ्यास प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान रूप में

बताये हुए मार्ग पर करना चाहिये।

भगवान् शंकर कहते हैं कि ध्यान का माहात्म्य इतना विशाल है कि मैं भी पूर्ण वर्णन नहीं कर सकता। ध्यान की साधना के कारण ही साधक विचित्र वस्तुओं को पाने और देखने की शक्ति प्राप्त करता है। अणिमा आदि सिद्धियां अपने वश में कर लेता है। सृष्टि के सम्पूर्ण सम्भव लाभ प्राप्त होने लगते हैं, इसमें कोई संशय नहीं।

हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग स्वयं में पूर्ण नहीं होते। उत्तम गुरु से अपने लिंये उपयुक्त मार्ग प्राप्त करके योगी साधना करता है। बिना मार्ग-दर्शक गुरु के बुद्धिमान साधक को हठयोग में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।

## राजाधिराज योग

तंत्र में रहस्यमय राजाधिराज योग का यह संक्षिप्त वर्णन है। स्वस्तिक आसन (सुखासन) में बैठकर गुरु का मानसिक पूजन करे ओर ध्यान साधना करे। शान्त, सरल, भाव में स्वस्थचित्त होकर बैठे। इस योग का वही अधिकारी है जो वेदान्त को युक्तिपूर्वक समझकर संसारिक भाव से मुक्त हो गया और स्वयं को लीलाक्रम का अंगमात्र मानकर सम-अवस्था में स्थित हो गया। मन को वृत्तिहीन बनाकर साधक स्वयं पूर्ण के समान हो जाता है। यह ध्यान साधना सब प्रकार की सिद्धियां प्रदान करती है।

ऐसा योगी, स्पृहा त्यागकर बराबर साधना करता रहता है। इसके लिये अर्हत नामक देवता स्वयं से अलग नहीं है। आत्मा ही शाश्वत् है, नित्य है और सर्वत्र विद्यमान है। वह सबमें परम-सत्ता को देखता है। योगी का विचार बन जाता है कि न तो कोई बन्धन है न मोक्ष ही कुछ है, क्योंकि वह सबमें एकरस उस परम सत्ता को ही देखता, जानता है। इस प्रकार का भाव जिसमें स्थिर हो जाता है, वह सर्वदा मुक्त और आत्मा में ही स्थित रहता है। ऐसा योगी मेरा पूर्ण भक्त है, जो सब लोकों में पूज्यनीय है।

जीवात्मा और परमात्मा दोनों में मैं ही हूं। मैं ही दोनों में भासित होता हूँ। साधक को खंड-भाव अथवा भेद भाव को त्यागकर यह चिन्तन

करना चाहिये। अध्यारोप और अपवाद सिद्धान्त के द्वारा भी सब कुछ उसी एक में लीन होता है।

इस प्रकार साधना करने से साधक ओज प्राप्त करता है। सब प्रकार के रोग निवृत्त हो जाते हैं। मूढ़जन भ्रम से व्याकुल होकर अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष चिदानन्दपूर्ण ब्रह्म का त्याग करके, तथा अपरोक्ष को परोक्ष समझकर भ्रान्त होते हैं। सत्य का ज्ञान इस चराचर विश्व को समझकर भ्रान्त होते है। सत्य का ज्ञान इस विश्व को जो द्वन्द्वमय है, परोक्ष कर देता है। भ्रम दूर हो जाता है। परब्रह्म अपरोक्ष है। बुद्धि के क्षेत्र में उसे संज्ञायें दी जाती हैं परन्तु वह नित्य एकरस है एवं अनेक भी है। अनेक द्वन्द्वों के नष्ट होने पर उसके सिवाय कुछ शेष नहीं रहता है सब कुछ उसी में स्थित अथवा लीन हो जाता है।

योगी को वस्तुओं और रूपों में राग त्याग कर अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करता हुआ साधक अपने में ही स्थित परम प्रकाश द्वारा, तेजस्वी होता है।

श्रोता की बुद्धि की सभी शंकाओं, विविध अर्थो को, गुरु की शिक्षा शांत करती है। मति जब निश्चयात्मिका हो जाती है, श्रद्धा एवं विश्वास दृढ़ हो जाते हैं, तब गुरु की वाणी की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। साधक के अभ्यास के कारण एकरस ज्ञान स्वतः स्फुरित होता है। जहां वाणी मूक हो जाती है, जो वाणी के परे है, तथा जो मन के द्वारा मूक हो जाती है, तथा जो मन के द्वारा अप्राप्य है, कल्पना के द्वारा जाना नहीं जा सकता, वह विकारहीन वास्तविक ज्ञान केवल साधना द्वारा स्फुरित होता है।

आज जो शरीर हमारे पास है, उसमें प्रवाहित चैतन्य तत्व ही शरीर को जीवित की संज्ञा प्रदान करता है। चैतन्य तत्व विभिन्न शरीरें में नही मरता। इन्द्रियों के लिये भोग-प्रसंगों में भी वही चैतन्यतत्व निःसंशय चेतना प्रदान करता है।

अभ्यास परिपक्व अथवा स्थिर होने तक मिताहार आवश्यक है। अन्य किसी मार्ग से बुद्धिमान साधक भी अपनी साधनाओं मे पूर्णतत्व प्राप्त करने में समर्थ नहीं होगा। समाज में, सभा आदि में, बुद्धिमान साधक, साधु, प्रिय एवं लाभदायी वाणी बोले। शरीरपिण्ड रक्षा हेतु कर्म

करे। व्यर्थ अधिक सम्भाषण न करे। राग का त्याग अवश्य करे। अनेक रूपों में उत्पन्न होने वाले रोग को सर्वथा शीघ्रतापूर्वक त्याग करे। मुक्ति मार्ग की अन्य राह नहीं है।

## गृहस्थ और साधना

अपने घर में रह कर गृहस्थोचित कर्म करते हुये, लेकिन राग भाव को त्यागकर श्रेष्ठ पुरूष सब प्रकार के अभ्यास कर सकते हैं। कर्त्तव्य-भाव से आवश्यक व्यवहार हेतु, ब्राह्मणसंग करे। व्यक्ति कर्म-कर्म-श्रृंखला के नियम के कारण, अथवा कर्म के निश्चित नियम के पालन हेतु कर्मो में प्रवृत्त होते हैं। योगी निमित्त-भाव से कर्म करता है। निमित्त-भाव से किये गये कर्मसंस्कार दोषों को जन्म नहीं देते। सृष्टि लीला कर्म-श्रृंखला पर आधारित है। कर्म राग-भाव से नहीं, निमित भाव से करना चाहिये।

बुद्धिमान व्यक्ति, गृहस्थ होते हुये भी इस प्रकार का निश्चित मत बनाकर योगाभ्यास एवं लौकिक कर्म करे। सिद्धियां निश्चित प्राप्त होगी। इसमें कोई मतभेद नहीं हो सकता। पाप और पुण्यमय संस्कारों में राग त्यागकर, गृहस्थ आश्रम में रहते हुये भी लोक-लाभ लोक सेवा एवं लोक संग्रह के लिये उपायपूर्वक कर्म करता रहे। संपूर्ण कर्म विधि पूर्वक करता हुआ भी साधक अकर्त्ता रहता है। जब राग नहीं होगा तो कर्त्तृत्वाभिमान नहीं रह सकता। यह राजाधिराज योग गृही तथा विरक्त दोनों के लिये समान रूप से सुलभ एवं उपादेय है।

## मंत्र योग

उत्तम मंत्र योग का शुभ वर्णन लौकिक और पारलौकिक सुखों का अविरोध लाभ कराता है। श्रेष्ठ मंत्र अथवा उचित मंत्र जानकर अभ्यास द्वारा, योग सिद्धियां शीघ्र प्राप्त की जा सकती हैं। साधकों में श्रेष्ठ योगी को भी मंत्र-योग सभी ऐश्वर्य और सुख देने वाला होता है। लौकिक और पारलौकिक लाभ, मंत्र सिद्धि द्वारा सहज प्राप्य है।

त्रिकूट अथवा त्रिपुर में स्थित शक्ति का मंत्र गुरु से प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिये। मूलाधार, अनाहत एवं आज्ञाचक्रों में शक्तियों का स्थान माना गया है। यही त्रिकूट अथवा त्रिपुर है। मूलाधार में वाणी को उत्पन्न करने वाली विद्युत प्रभा वाली वाग्देवी अर्थात् वाणी की

अधिष्ठात्री देवी का बीज अक्षर स्थित है। अनाहत चक्र में कामनाओं का स्फुरण होता है। यहां काम बीज अक्षर की स्थिति है। आज्ञा चक्र को साक्षात् सर्वसम्पन्ना शक्ति का स्थान माना गया है। यहां शक्ति का बीज अक्षर है। इन तीनों स्थानों की अधिष्ठात्रियां, परम सत्ता की अंशरूपा, विशिष्ट शक्तियां मानी गई हैं। देवी देवताओं की कल्पना, भाव और अर्थ को स्पष्ट करने के लिये, अधिष्ठाता रूप में की गई है। इन तीनों शक्तिओं के सम्मिलित बीजमंत्र की साधना सिद्धि चाहने वाले साधक प्रयत्न करें तो भोग एवं मुक्ति दोनों लाभ सहज रूप से प्राप्त हो सकते हैं।

(इस ग्रंथ के अन्त में अप्राप्य हस्त लिखित "त्रिकूट रहस्य" से त्रिशक्तियों अथवा त्रिपुर-भैरवी का बीज मंत्र उघृत किया गया है। तंत्र-ग्रंथों में मंत्रो को अत्यन्त गोपनीय माना गया है। यह मंत्र, मंत्र कोष में भी प्राप्त नहीं हो सका था। साधक को चाहिये कि इस मंत्र की साधना करने के पहले, अधिकारी भेद के वर्णन से अपने आप को स्वयं तौल ले। यदि गुणों की कमी हो तो पहले अपनी कमी दूर करे ले, अन्यथा साधक लाभ के बदले हानि एव चित्त की अशान्ति पायेगा। वर्तमान युग में गुरु-पद्धति अत्यधिक भ्रष्ट हो गई है। साधना की चाह रखने वाले भी योग्य व्यक्ति उचित गुरु प्राप्त नहीं कर पाते। इस ग्रन्थ को गुरु मान कर, अधिकारी भेद के अध्यायों द्वारा अपने तत्व को भली भांति समझकर उपयुक्त साधना पद्धति ग्रहण की जा सकती है।)

गुरु से मंत्र को प्राप्त करके निश्चित मति एवं संशयहीन चित्त से मंत्र का जप, एक एक अक्षर का स्पष्ट उच्चारण करते हुये समत्व गति से अर्थात् न बिलम्बित गति से, न द्रुगति से करना चहिये।

बुद्धिमान मनुष्य एकाग्र चित्त होकर शास्त्रोक्त विधि से देवी त्रिपुरेश्वरी से लाभ पाने के लिये इस मंत्र का तीन लाख जप तथा एक लाख आहुतियां दें। कनेर का फूल, गुड़, खीर और घी को मिलाकर हविष्य बनाये। योनि की आकृति का कुण्ड बनाये तथा तीन लाख जप पूर्ण होने के बाद एक लाख आहुतियां दे। प्रत्येक दिन की जप एवं आहुति संख्या अपनी दिनचर्या के अनुसार स्वयं निश्चित कर ले। अधिक समय तक चलने वाले अनुष्ठान वर्तमान युग की दिनचर्या में कष्ट-साध्य

होते हैं। संध्याकाल से अर्धरात्रि तक का समय द्वितीय प्रहर शक्ति साधना के लिये उपयुक्त माना गया है। अर्धरात्रि से तीन घंटे पहले से अर्धरात्रि तक का समय सर्वोतम माना गया है। सब प्रकार की कामनओं को, त्रिपुर भैरवी देवी निश्चित रूप से पूर्ण करती हैं।

गुरु को विधि पूर्वक संतुष्ट करके, श्रेष्ठ मंत्र प्राप्त कर, इन्द्रिय संयम के साथ साधना करने वाला व्यक्ति, यदि मन्द-भाग्य भी हो तो केवल एक लाख मंत्र जप से सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ऐसे साधक का शरीर आकर्षक एवं कांति-युक्त हो जाता हैं। तंत्रशास्त्रों में तो यहां तक कह दिया गया है कि योगी को देखकर काम-मोहित होकर नव युवती क्षुब्ध हो जाती हैं, निर्लज्ज और भयहीन होकर योगी को अपना मन भी अपर्ण करती है। किसी विशेष उद्देश्य या लक्ष्य प्राप्ति अथवा कामना सिद्धि के लिये यदि मंत्र का दो लाख जप किया जाये तो देवी त्रिपुर भैरवी शीघ्र गति से जिस प्रकार माता अपने बालक की पुकार पर विह्वल हो जाती है, साधक को लाभ देने के लिये उचित मार्ग द्वारा प्रयत्नशील हो जाती है तथा अपनी संपूर्ण शक्ति साधक को दे देती है। देवी द्वारा शक्ति प्रदान का अर्थ है कि साधक के शरीर में मूलाधार, अनाहन और आज्ञा चक्रों में स्थित किन्तु सोई हुई शक्ति पूर्ण रूपेण जागृत हो जाती है। साधक को समस्त ऐश्वर्य प्राप्त होने लगते हैं और तीनों चक्रों में स्थित शक्ति व्यक्ति के उपयोग में आने लगती है।

त्रिपुर भैरवी के मंत्र का तीन लाख जप करने से, मंडल सहित समस्त मंडलेश्वर, साधक के प्रभाव क्षेत्र में आ जाते हैं।

मंत्र का छः लाख जप करने से साधक को प्राप्त शक्तियों के कारण सेना और परिचारकों सहित महीपालगण प्रभाव-क्षेत्र में आ जाते हैं।

बारह लाख जप से मनुष्येतर सृष्टि के यक्ष, राक्षय, सर्प, आदि भी साधक के प्रभाव में आने लगते है एवं आज्ञा-पालन करते है।

१५ लाख जप करने पर, बुद्धिमान श्रेष्ठ साधक का सम्बन्ध गन्धर्व, विद्याधर, अप्सराओं एवं सिद्धिगणो की सृष्टि से हो जाता है। सुनने की शक्ति बढ़ जाती है तथा सर्वज्ञा प्राप्त हो जाती है।

१८ लाख मंत्र जप से साधक का शरीर दिव्य हो जाता है एवं

पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के विपरीत ऊपर उठने की शक्ति प्राप्त होती है। साधक इच्छानुसार संसार में भ्रमण कर सकता है। पृथ्वी के नीचे स्थित रहस्यों को एक छिद्रमात्र से देख सकता है।

देवी त्रिपुर भैरवी के मंत्र का २८ लाख जप करने से विद्याधरों की सृष्टि पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो सकता है। साधक की बुद्धि विलक्षण हो जाती है। वह कामदेव के समान कान्तिवान सुगठित शरीर प्राप्त करता है एवं शरीर में अत्याधिक बल का अनुभव होता है।

३० लाख मंत्र जप से ब्रह्मा और विष्णु के समान शक्ति प्राप्त करता है।

मंत्र के साठ लाख जप से रूद्रत्व प्राप्त होता है।

अस्सी लाख जप से सृष्टि में व्याप्त शक्ति तत्वों पर अधिकार प्राप्त करता है।

एक करोड़ मंत्र जप पूर्ण होने पर साधक महायोगी हो जाता है और परम पद का अधिकारी बनता है। इतना अधिक जप करने वाला व्यक्ति त्रैलोक्य में दुर्लभ है। त्रिपुर (मूलाधार, अनाह और आशा चक्र) के अन्तर्गत स्थित समस्त शक्तियों का वह पूंर्ण अधिकारी हो जाता है।

इन तीन चक्रों में स्थित शक्ति महान् कल्याणकारी है एवं सृष्टि का आदिकरण हैं। साधक यदि चाहे तो वह स्वयं कभी नष्ट न हो।

त्रिपुर में स्थित शक्तित्रय जानने योग्य है, जिसे जानकर समस्त पनताकारी तत्वों से रहित होकर साधक शान्त त्रिपुर-पद को प्राप्त करता है। बुद्धिमान साधक अपने समस्त अभीष्ठ निःसंदेह प्राप्त कर सकता है।

### चेतावनी

इस ग्रन्थ में वर्णित शिव-विद्या महा विद्या है। यह रहस्यमय एवं अतिउत्तम है। विद्वान् साधक, भगवान शिव की बताई इस विद्या को रहस्यमय मानकर श्रद्धापूर्वक सम्हाल कर रखें। विद्या गोपनीय रहने पर बलवती होती है प्रकाशित करने पर निर्बल हो जाती है इत्यादि।

बुद्धिमान साधक इस ग्रन्थ को भली भाँति आद्योपान्त पढ़कर

बुद्धिगत करले। क्रमशः योग-सिद्धि में ग्रन्थ का चिन्तन, मनन एवं निदि्व्यासन अत्याधिक मनस्वी साधक द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।योगी के लिये उचित है कि मुक्ति पथ पर चलने वाले अधिकारी और योग्य सत्य-पथ के विश्लेषण-कर्त्ता को यह ग्रन्थ सुनाये।

कर्त्तव्यनिष्ठा, संयमशील एवं धैर्यवान् व्यक्ति को ही सिद्धियां मिलती हैं। अकर्मण्य व्यक्ति को केवल ग्रंथ पाठ एवं ज्ञान चर्चा से सार्थकता प्राप्त नहीं हुआ करती। श्रेष्ठ योगियों को विधि पूर्वक क्रिया करना चाहिये।

सहज स्वभाविक रूप से प्राप्त भोगों में एवं वस्तुओं में संतोष मानते हुये, पूर्ण कर्मठ, आसक्ति रहित एवं त्याग-भाव-प्रधान गृहस्थ साधक, लोक-पूजित हो सकता है और मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। भक्तों की कृपा से भी गृहस्थों को सहजरूप में अनेक शक्तियां प्राप्त हो सकती है। भगवान शंकर माता पार्वती से कहते हैं कि हे देवी, साधना किये विना कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। अनेक उत्तम उपलब्धियों और सिद्धियों के लिये प्रत्येक व्यक्ति निरालस्य एवं भ्रम रहित होकर साधना करे।

## पुस्तक परिचय

यह एक लुप्तप्राय: तन्त्र माना गया है। इसमें भगवान शिव ने योगमार्ग, तन्त्रमार्ग तथा सहजमार्ग का अत्यन्त सरल और सर्वजनसुलभ विधान बतलाया है। इस ग्रंथ की व्याख्या के उपदेशक हैं महामहोपाध्याय डा. गोपीनाथ जी कविराज। अत: इस ग्रंथ की उपयोगिता इसलिये भी बढ़ जाती है कि एक साधन सिद्ध महापुरूष ने इस ग्रंथ में वर्णित सिद्धान्तों का अपनी अन्त:प्रज्ञा में अनुभव करके उसके सारतत्त्व का उपदेश प्रस्तुत किया है।


**भारतीय विद्या प्रकाशन**

1 यू. बी. जवाहर नगर बैंग्लो रोड दिल्ली-110007

फोन-2521570

पो. बा. न. 1108 कचौड़ी गली वाराणसी-221001

फोन-3223766